इतिहास और कल्पना

Itihas aur Kalpana

इतिहास और कल्पना

: हिन्दी के प्रतिनिधि एकांकीकारों के एकांकियों का अनुपम संकलन :

One-act Plays

A.K. Sharma

सम्पादक

अविनाशकांत शर्मा एम० ए०,

(पी० यू० इ० एस०)

महेन्द्रा कॉलेज, पटियाला।

प्रकाशक

मेहरचन्द मुन्शीराम

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

१०-बी फैज बाजार, दिल्ली।

प्रकाशक
मनोहरलाल जैन
मेहरचन्द मुन्शीराम
१०-बी फैज बाजार, दिल्ली।

प्रथम संस्करण
१९५२
मूल्य तीन रुपये

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दिल्ली।

एकांकी के सम्बन्ध में

हिन्दी के इस उन्नयन-काल में साहित्य के विभिन्न अंगों की भाँति एकांकी की दिशा में भी पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। हिन्दी-एकांकी का इतिहास पिछले १५-२० वर्ष तक ही सीमित है; इन्हीं दिनों उसका प्रचलन और विकास हुआ। आज एकांकी की उपयोगिता इस सीमा तक बढ़ गई है कि कोई भी सार्वजनिक समारोह या सामाजिक उत्सव उसके बिना शुष्क-सा लगने लगता है। स्टेज की दृष्टि से लिखे गए एकांकी कम ही मिलते हैं। इस दिशा में हमारे लेखकों का ध्यान अब आकर्षित हो गया है और शनैः-शनैः उन्नति होती जा रही है। रेडियो-रूपकों के माध्यम द्वारा भी एकांकी की कला को पर्याप्त प्रोत्साहन और प्रश्रय मिला है।

एकांकी की कला का यदि विश्लेषण करके देखें तो उसकी सफलता की इयत्ता कहानी, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, कार्य-व्यापार तथा प्रभाव आदि के पूर्ण विकास में ही निहित है। इसमें प्रायः किसी एक ही परिस्थिति अथवा घटना का विकास होता है। इसका कथानक अत्यन्त सुदीर्घ न होकर जीवन के किसी भी महत्त्वपूर्ण क्षण अथवा उसमें घटित होने वाली घटना पर आधारित होता है। एक ही घटना या परिस्थिति के चारों ओर इसके पात्र चक्कर लगाते हैं। इसी परिस्थिति अथवा घटना के समग्र अथवा अल्प अंश पर पूर्णतया प्रकाश डालने में ही एकांकी की सबसे बड़ी सफलता है।

आज के व्यस्त जीवन में—जब कि समाज के प्रत्येक प्राणी को समयाभाव की शिकायत है तब—एकांकी की उपयोगिता और उसकी

महत्ता और भी बढ़ जाती है। अनेक कामों में आकण्ठ-निमग्न मानव को कम-से-कम समय में मनोरंजन के साथ-साथ अनुपम प्रेरणा तथा स्फूर्ति देने वाले एकांकियों की बहुत आवश्यकता है। बड़े-बड़े नाटकों को देखने का उसे अवकाश कहाँ? इसी मूल भूमि के कारण जिस प्रकार हिन्दी के पाठक महाकाव्य और खण्डकाव्य के स्थान में अपनी ज्ञान-पिपासा छोटे-छोटे मुक्तक गीतों से शान्त करते हैं, बड़े-बड़े उपन्यासों के स्थान पर छोटी-छोटी कहानियों से अनुरंजित होते हैं, उसी प्रकार बड़े-बड़े नाटकों को पढ़ने, देखने या सुनने का उनके पास सर्वथा अवकाश नहीं होता। इसी व्यस्तता के जीवन में मनोरंजन की सरस धारा एकांकी द्वारा आई। एकांकी की एक विशेषता यह भी है कि वह केवल-मात्र एक घंटे या आध घंटे में ही आपको इतना मनोरंजक तथा स्फूर्तिदायक तत्त्व प्रदान करने की सामर्थ्य रखता है, जो आप बड़े-बड़े नाटकों तथा उपन्यासों के दर्शन तथा पठन से नहीं प्राप्त कर सकते।

एकांकी नाटक बड़े नाटकों का कोई अंश नहीं, प्रत्युत वह सर्वथा अपनी पूर्णतया विकसित एक कला का रूप धारण कर चुका है। हाँ, दृश्य इसके भी कई-कई हो सकते हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें पात्र कम-से-कम हों और घटनाओं का आडम्बर अधिक न हो। स्थान, समय तथा कार्य-व्यापार की एकरूपता ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण वही है जो कि हम ऊपर लिख चुके हैं। इसके अभिनय में थोड़ा समय लगता है; दर्शक लोग बैठकर उकताते नहीं और पात्र भी इतने थोड़े समय में थकान अनुभव नहीं करते।

हिन्दी में एकांकी कब आया, इस सम्बन्ध में अधिक अधिकारपूर्वक कोई नहीं कह सकता। हाँ, प्रसादजी के 'एक घूँट' को एकांकी का जनक कहा जाता है। यद्यपि उनसे पूर्व भी हिन्दी-साहित्य में संस्कृत-रूपकों के आधार पर लिखित कुछ नाटकों का सृजन हुआ, तथापि एकांकी के जिस रूप को आज मान्यता मिली है, वह प्राचीन

नहीं किन्तु नवीन साहित्य-विधाओं से ही अनुप्रेरित है। वास्तव में डॉक्टर रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' को 'एक घूँट' की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय दिया जा सकता है। उनके बाद तो सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वर प्रसाद, सुदर्शन, गणेश प्रसाद द्विवेदी, कमलाकान्त वर्मा, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर तथा सद्गुरुशरण अवस्थी आदि अनेक कृतिकारों ने अपनी कृतियों से एकांकी-साहित्य को विकसित और लोक-प्रिय बनाया।

प्रस्तुत संग्रह के प्रायः सभी एकांकी कला और प्रेरणा की दृष्टि से अत्युत्कृष्ट कहे जा सकते हैं। इसमें समाज के विभिन्न पक्षों तथा वर्गों पर कटु व्यंग्य करके जीवन को एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देने वाले एकांकी संग्रहीत हैं। कुछ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं तो कुछ कल्पना के आवरण से आवेष्टित। लेकिन सब ही नाटकों की प्रेरणा-भूमि समाज को उन्नत करने का प्रेरक सन्देश देती है। इसी कारण हमने इसका नाम 'इतिहास और कल्पना' रखा है। पाठकों का इससे कुछ मनोरंजन और ज्ञान-वर्द्धन होगा, ऐसी हमें पूर्ण आशा है। अन्त में जिन कृतिकारों की कृतियाँ इसमें गुम्फित की गई हैं, उनके प्रति हम अपनी नम्रता ज्ञापित करना अपना नैतिक कर्तव्य समझते हैं।

—सम्पादक

क्रम

श्री उदयशंकर भट्ट

हिन्दी-कविता तथा नाटक के क्षेत्र में श्री उदयशंकर भट्ट का अपना विशेष उल्लेखनीय स्थान है। कविता के समान उनका नाटक-लेखन पर भी उतना ही अधिकार है। उनके नाटक अधिकांश पौराणिक तथा सामाजिक होते हैं।

जब से हिन्दी में एकांकी-लेखन की प्रणाली चली, भट्ट जी ने उस दिशा में अपना सबल पग बढ़ाया। और गौरव की बात है कि उन्होंने ऐसे एकांकी लिखे कि जिन्हें हिन्दी के एकांकी-साहित्य का जनक कहा जा सकता है।

अपने एकांकियों में भट्टजी ने मुख्यतः सामाजिक जीवन की विषमताओं के प्रति व्यंग्य किया है। वैसे पौराणिक नाटकों के लेखन में उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। उनके एकांकी-संग्रहों में 'अभिनव एकांकी नाटक', 'आदिम युग', 'समस्या का अन्त' तथा 'धूम-शिखा' आदि प्रमुख हैं।

पात्र-परिचय

काद्रवेय	...	...	परिवार-पति
काद्रवेयी	...	...	जन-नायिका
ज्येष्ठ काद्र	...	...	काद्र-परिवार
मध्यम काद्र	...	...	,, ,,
कनिष्ठ काद्र	...	...	,, ,,
मध्यमा काद्रा	...	...	युवती
उषा काद्रा	...	...	युवती
विश्व पंचजन	...	...	पंचजन-परिवार
रुद्र पंचजन	...	...	,, ,,
वरुण पंचजन	...	...	पंचजन-परिवार-पति

प्रथम विवाह

(ईसा से ५००० वर्ष पूर्व)

[स्थान—हिमालय की उपत्यका। देवदारु की लकड़ी और भोज-पत्र से छाया हुआ एक कुटीर। बीच में धुआँ निकलने का एक छोटा-सा मार्ग। कुटीर के बाहर आग जल रही है। उसके चारों ओर भोज-पत्र के आसन बने हैं। कुटीर के बाहर का भाग समतल है। जिस समय की हम कथा लिख रहे हैं, उससे पूर्व मनुष्य-जाति घूमती-फिरती थी—कुछ दिन एक स्थान पर और कुछ दिन दूसरे स्थान पर। गोत्रों-परिवारों के रूप में पशुओं के साथ कभी-कभी ये दो-एक मास के लिए ठहर भी जाते थे। इस समय तक कन्द-मूल के साथ ये लोग पशुओं को मारकर खाना भी सीख गए थे। पहले-पहल वृक्षों की शाखा, तत्पश्चात् पत्थर आदि के परशु-खाण्डे बनाने लगे थे। भोज-पत्र और चमड़े का परिधान ही प्रधान रूप से व्यवहार में आता था; क्योंकि मनुष्यों के रोम धीरे-धीरे कम होते जा रहे थे। वे एक तरह से इन्द्रियों की वृत्तियों को समझने लगे थे। स्त्री-पुरुष के भेद तथा सर्दी के कारण उन्होंने वस्त्र धारण करना स्वीकार कर लिया था। तात्पर्य यह कि नंगा रहने में लज्जा-जैसी भावना का उनमें उदय हो गया था। राग और द्वेष नाम की दोनों भावनाओं में परस्पर सद्भावना-राग का प्राधान्य था और द्वेष-क्रोध की भावना पशुओं को मारने और उनसे अपने को बचाने में थी। कभी-कभी पुरुषों में परिवार की जन-नायिका के कारण संघर्ष हो जाता था। यही नहीं, नायिका भी अपनी रुचि से विवश होकर कभी एक को और कभी दूसरे को प्रेम की दृष्टि से देखने लगती थी। इससे पुरुषों में जहाँ स्त्री

का प्रेम पाने की तीव्रता उत्पन्न हो रही थी, वहाँ एक-दूसरे के प्रति वैमनस्य भी झलकने लगता था। फिर भी उस समय तक मनुष्य-जाति अपने हृदय के भावों को छिपाने, झूठ बोलने तथा छल करने की प्रक्रिया नहीं जानती थी। उस समय स्वाभाविक गति से मनुष्य का विकास हो रहा था। इन्द्रियाँ भूख, प्यास, नींद की तरह उत्तप्त होने पर तृप्ति पाती थीं। एक बात और। मनुष्य अनादि काल से सुरा-सोम, मैरेय, मधुमद आदि न जाने कैसा-कैसा मद पीने का आदी हो रहा था। उस समय भी इसका काफी प्रचार था। शहद की सुरा उस समय बनाई जाती थी। द्राक्षा-सुरा भी उस समय थी। इसने मनुष्य-जाति को भड़काने-उत्तेजित करने में अधिक सहायता दी है; अन्यथा उसके विकास में कदाचित् इतनी शीघ्रता न आती। हमारा आशय इससे इतना ही है कि मद ने उसकी इन्द्रियों को उत्तेजित किया। पुरुषों के शरीर गौर और दृढ़ थे; मांस-पेशियाँ उभरी हुईं। सुँते हुए शरीर, कठोर और सुन्दर। कमर में चमड़ा या भोज-पत्र का परिधान। शेष शरीर खुला हुआ। स्त्रियाँ भी वैसे ही परिधान में, किचुचर्म का उत्तरीय, जिसमें भीतर की तरफ भेड़ों के बाल और बाहर की तरफ चमड़ा। काल में—सन्ध्या, सूर्यास्त से कुछ पूर्व। जन-वृद्ध काद्रवेय कन्धे पर गौ की बछिया, जो थोड़े समय पूर्व वन में उत्पन्न हुई है, लादे आ रहा है। उसके पीछे जन-नायिका काद्रवेयी लकड़ी का गट्ठर लिये चली आ रही है। उसके पीछे उसकी तेरह साल की लड़की है। उसके सिर पर भी कन्द-खण्ड हैं। काद्रवेय बछिया को आग के पास लाकर खड़ा कर देते हैं। काद्रवेयी लकड़ी और लड़की कन्द उठाकर कुटीर के एक कोने में रख देती है। काद्रवेयी कन्द-खण्डों को एक-एक करके आग में डाल देती है। लड़की चमड़े की मशक उठाकर बाहर चली जाती है। वृद्ध आग के पास बछिया के शरीर पर हाथ फेरता हुआ—]

काद्रवेय—तूने सुना, काद्रवेयी ?

काद्रवेयी—क्या ?

काद्रवेय—ज्येष्ठ काद्र कह रहा था, हम अब यहीं रहेंगे।

काद्रवेयी—क्यों ?

काद्रवेय—इसलिए कि घूमते रहना व्यर्थ है। एक जगह रहने से ठीक होगा। कृषि करेंगे। सब-कुछ बिगड़ता जा रहा है काद्रवेयी, हम लोग सदा से घूमते रहे हैं। जिस दिन घूमना छोड़ देंगे, उस दिन न जाने कैसा होगा। मैं बार-बार कहता हूँ, अब आगे बढ़ो। मुझसे तो अब एक जगह रहा नहीं जाता। दिन-भर बार-बार वही देखते रहना। वही सरित् , वही पर्वत, वही भूमि, वही सब-कुछ।

काद्रवेयी—(चमड़े का परिधान सीती हुई पहले नोकदार लकड़ी से छेद करती है, फिर चमड़े का डोरा पिरोती है) यह तो बुरा है काद्रवेय ! रोज नया दिन आता है, नई रात्रि आती है, नया शशि उगता है, सब नया-नया। फिर हम क्यों एक ही स्थान पर रहें ?

काद्रवेय—मध्यम काद्र भी यही कहता है और कनिष्ठ भी यही। उषा क्या चाहती है, और मध्यमा काद्रा ?

काद्रवेयी—न जाने, पूछा तो मैंने नहीं है। पर उनके चाहने से क्या होता है। जन-नायिका तो मैं हूँ न ! जो मैं चाहूँगी, वही होगा। काद्रवेय, जो तू चाहेगा, वही होगा।

काद्रवेय—नहीं, वे ऐसा नहीं कहते। वे कोई नई बात कहते हैं। यहाँ पास ही एक और गोत्र है। वे कृषि करते हैं। उनके अश्व और गाय बहुत सुन्दर हैं न !

काद्रवेयी—(सीना बन्द करके) जानती हूँ, काद्रवेय ! मुझे दिखाई देता है। जैसे हम अब तक रहते आए हैं, वैसे अब नहीं चलेगा। यदि द्वितीय काद्रवेय सिंह से लड़ते हुए न मारा गया होता, तो आज ये क्या इतना सिर उठाते ? ये उसे मानते भी तो बहुत थे। ज्येष्ठ तो उसके लिए अब भी कभी-कभी रो उठता है। यही हाल और दोनों का

भी है। मेरा विचार है, विचार ही नहीं निश्चय है कि पुत्र सब मध्यम काद्रवेय की सन्तान हैं और उषा और मध्यमा तेरी सन्तानें हैं। पर मैं तो सबकी ही हूँ न? (फिर सीती है।)

काद्रवेय—हाँ, सो तो है ही। (हँसता है। काद्रवेयी कन्द निकालकर काद्रवेय को देती है और आप भी खाती है। काद्रवेय पास ही कोने में रखे चर्म-कादम्ब से मद निकालकर चषक में भरकर पीता है।) तू भी पियेगी? ले। (देता है।)

काद्रवेयी—(पीती हुई एकदम उठकर) देखूँ, मैरेय हुआ।

काद्रवेय—मैरेय सुरा मुझे अच्छी लगती है। शरीर में नई शक्ति आ जाती है। ऐसा लगता है, मैं इस समय दो-दो सिंहों से लड़ सकता हूँ। पर जाने क्यों, मेरे सिर के केश श्वेत होते जा रहे हैं, दाढ़ी भी।

काद्रवेयी—फिर भी तू मुझे अच्छा लगता है। सभी मुझे अच्छे लगते हैं। कभी-कभी उषा और मध्यमा काद्रा को देखकर लगता है, जैसे ये मेरी होती हुई भी मेरे लिए अनिष्ट हैं।

काद्रवेय—क्यों? वे भी तो तेरी तरह सुन्दर हैं।

काद्रवेयी—बस, यही तो, यही तो है, जिससे मैं उन पर कभी-कभी क्रोध कर बैठती हूँ।

काद्रवेय—किन्तु क्रोध करने से क्या वे सुन्दर न लगेंगी? उनका वक्षस्थल कितना पुष्ट होता जा रहा है और रोम-राजि बढ़ती जा रही है। यही शोभा के लक्षण हैं, काद्रवेयी! किन्तु मैं सोचता हूँ, यह कृषि क्या होती है? पृथ्वी माता का उदर फाड़कर आहार लेना क्या भली बात है। वैसे ही हमको किस बात का अभाव है? यह गोत्र वाले न जाने क्या-क्या कर रहे हैं। उसे वे अन्न कहते हैं।

काद्रवेयी—हाँ, उसे वे अन्न कहते हैं। अन्न की क्या आवश्यकता है, काद्रवेय?

काद्रवेय—कहते हैं, अन्न ही हमारा जीवन है। सर्वथा नई बातें सुन रहा हूँ। अब तक जो हम लोग खाते रहे हैं, वह क्या हमारे जीवन के लिए नहीं था ?···उषा नहीं आई ?

काद्रवेयी—कभी-कभी सोचती हूँ। क्या सोचती हूँ, बताऊँ ?—मैं सोचती हूँ, यदि मैं ही होती, उषा और मध्यमा काद्रा न होतीं, तो कैसा होता ? न जाने क्यों कभी-कभी ऐसा विचार मुझे आ जाता है।

काद्रवेय—(रुककर) न जाने क्यों तू ऐसा सोचती है। मैं तो कुछ भी नहीं सोचता। मैं सोचता हूँ—पशुओं से लड़ने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा परिवार बड़ा हो। हमने दो व्यक्तियों को पिछले दिनों में खो दिया—मध्यम और कनिष्ठ को। हाँ, उस समय कभी-कभी मुझे लगता था, यदि वे दोनों कहीं चले जायँ, तो कैसा रहे ? सो क्या जाने मेरे सोचने से ही वे चले गए ! न जाने मैंने क्यों ऐसा सोचा। पृथ्वी को सिर झुकाकर अब मैं कई बार कह चुका हूँ कि अब मैं वैसा न सोचूँगा। तू भी वैसा न सोच, काद्रवेयी !

काद्रवेयी—अच्छा। (सीती है)

उषा—(जल लेकर आती है और एक कोने में रखकर) सब लोग आ रहे हैं, सब लोग आ रहे हैं। उनके साथ और भी हैं।

दोनों—कौन-कौन, दुहिता ?

उषा—दूसरे गोत्रज। देखो, वे आ रहे हैं। दूध दुह लिया, माँ!··· अच्छा, मैं दुहती हूँ।

(दोनों माँ-बेटी गाय-बकरियों का दूध दुहने बाहर चली जाती हैं। काद्रवेय मैरेय निकालकर पीता रहता है। इसी समय तीनों काद्र, दो नए गोत्रज और उनके साथ एक कुमारी आते हैं। 'द्यावा जय, पृथ्वी जय' की आवाज लगती है।)

काद्रवेय—आओ, आओ नए गोत्रज ; स्वागत !

(सबके हाथों में बड़े-बड़े वंश तथा कर्करी हैं।)

ज्येष्ठ काद्र—देखो, ये नए गोत्रज हैं, हमारे पड़ोसी पंचजन।

काद्रवेय—पंचजन क्या, ज्येष्ठ काद्र ?

नया गोत्रज—हम लोगों का परिवार 'पंचजन' कहाता है काद्रवेय! बहुत दिनों से हम लोग यहीं हिमालय की उपत्यका में रहते हैं। हम लोग व्रीहि-कृषक हैं।

काद्रवेय—व्रीहि-कृषक क्या, मैं समझा नहीं।

नया गोत्रज—शालि एक प्रकार का धान्य होता है। उसी को हम लोगों ने आहार बनाया है। आगे-आगे बढ़ते जाओ, तुम्हें नई लह-लहाती व्रीहि की कृषि दिखाई देगी—और गोधूम की भी।

काद्रवेय—इस स्थल में आए मुझे चार शुक्लपक्ष बीत गए। सम्भव है, अधिक बीते हों। मैंने देखा, यहाँ के लोगों ने अपनी प्राचीन प्रथाओं को तोड़ दिया है। हम लोग सदा घूमते रहे हैं। तुम लोग एक स्थान पर बस गए हो। हम कन्द-माँस खाते हैं, तुमने अन्न उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया है। सब नई-नई बातें सुनता हूँ, भ्रातर!

दूसरा गोत्रज—नया-नया ज्ञान, नया-नया दिन, नई-नई रात्रि, सब नया-ही-नया तो है काद्रवेय!

काद्रवेय—हम लोग नई पृथ्वी ही देखना चाहते हैं। एक स्थान पर रहकर तो नया नहीं हो सकता है पंचजन! नया देश देखो। जैसे दिन का देव सूर्य घूमकर पूर्व से पश्चिम को जाता है, जैसे रात्रि का देव घूमता रहता है, क्यों न हम लोग भी चलते रहें? नदी चलती है, झरने चलते हैं। रुक जाना बुरा है पंचजन!

प्रथम गोत्रज—हाँ, रुक जाना बुरा है; किन्तु सोचकर चलना ही अच्छा है। हम लोग अब तक व्यर्थ ही भ्रमण करते रहे हैं। वस्तुतः हमारे पूर्वजों ने एक जगह स्थिर होने के लिए ही भ्रमण किया था। जैसे दिन चलकर सप्ताह में समाप्त हो जाते हैं और सप्ताह मास में, उसी

तरह हम लोगों ने यहाँ निवास करने का निश्चय किया है काद्रवेय !

दूसरा गोत्रज—देखते नहीं हो, कितना सुन्दर है सब-कुछ !

ज्येष्ठ काद्र—वस्तुतः पिता काद्रवेय, मेरा यहाँ बहुत मन लगता है। हाँ, तुमने इस गोत्रज को देखा ? देखो यह।

काद्रवेय—देख रहा हूँ, ज्येष्ठ काद्र ! क्या इधर और लोग भी रहते हैं ?

प्रथम गोत्रज—यहाँ दूर-दूर तक गोत्र बसे हुए हैं। तुम्हारा क्या गोत्र है ?

काद्रवेय—मैं गोत्र नहीं जानता। सुनते हैं, हम लोग पुराने समय से इसी तरह चलते-ठहरते पूर्व से चले आ रहे हैं। यह भी कहते हैं कि हमारा वंश पुराना है। उसका एक भाग मेरा परिवार है।

द्वितीय गोत्रज—अच्छा तो है। रहो, यहीं रहो। कृषि करो। बहुत सुन्दर भूमि है यह। मेरे पिता को यह भाग प्रिय है काद्रवेय ! मुझे भी और मेरे इस भ्रातर को भी।

काद्रवेय—अच्छा। यह पहला ही अवसर है कि मैंने जीवन में दूसरे मनुष्य को देखा है। मैं तो सदा वनों में नदी के तटों पर इसी प्रकार परिवार के साथ घूमता रहा हूँ। एक बार एक मनुष्य मिला था। उसने इस (उषा के लिए संकेत है) का नाम उषा काद्रा रख दिया। तब से हममें भेद हो गया, नहीं तो अब तक हम लोग ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ के नाम से एक-दूसरे को पुकारते रहे हैं। मुझे यह अच्छा नहीं लगा।

ज्येष्ठ काद्र—नाम तो पहचानने के लिए रखा जाता है। इसका (नई गोत्रजा का) नाम विश्वावारा पंचजन मुझे प्रिय है।

प्रथम गोत्रज—मेरा नाम विश्व पंचजन है। इसका (छोटे का) नाम रुद पंचजन है। हम लोग पंचजन हैं न !

(काद्रवेयी और उषा काद्रा दूध की मशक भरकर आती हैं ।)

काद्रवेयी—(आश्चर्य से) इतने जन ! तुम लोग कहाँ से आए ?

सब गोत्रज—हम पास ही रहते हैं ।

काद्रवेयी—अच्छा, बहुत अच्छा है । मैंने बहुत दिनों बाद इतने व्यक्तियों को देखा । मेरे मध्यम और कनिष्ठ काद्रवेय जब से मरे हैं, तब से यहाँ आकर इतने मनुष्यों को परिवार में देख रही हूँ । बैठो, तुम लोग तो बड़े सुन्दर हो !

उषा काद्रा—(प्रथम गोत्रज से) आज तुम मेरे साथ नृत्य करना भला ! (उसका हाथ पकड़ लेती है ।)

मध्यमा काद्रा—मैं तुम्हारे साथ (द्वितीय गोत्रज के साथ) नृत्य करूँगी । आज बहुत सुन्दर होगा ।

ज्येष्ठ काद्र—मैं विश्वावारा के साथ नृत्य करूँगा ।

मध्यम और कनिष्ठ—नृत्य हमें प्रिय नहीं है । हम दुन्दुभि बजायँगे ।

[चन्द्रमा निकल आता है । काद्रवेयी सबको बैठकर कन्द देती है और क्षीर-चषक पिलाती है । इसके बाद काद्रवेय मैरेय सुरा सबको पिलाता है । इसी बीच में खाते-खाते लोग 'हो-हो' करके गाने लगते हैं । गोत्रज कर्करी (वंशी) बजाते हैं । मध्यम और कनिष्ठ काद्र दुन्दुभि बजाते हैं । सब नाचते हैं । नाचते-नाचते ठहरकर 'हो-हो' की ध्वनि से सारा प्रदेश गूँज उठता है । हो-ओ-औ-हो-३, हो-हौ-हो-३ बस, यही उदात्त-अनुदात्तयुक्त स्वर हैं, जो बार-बार दुहराए जाते हैं । ए ` ` ` हे-३, ए ` ` हे-३ । कभी-कभी दुन्दुभि रुक जाती है और केवल कर्करी ही बजती है । इसी प्रकार नाचकर सबके बैठ जाने के बाद वे फिर मैरेय पीते हैं । इसी समय]

विश्व पंचजन—काद्रवेय, मुझे आज्ञा दो, मैं मध्यमा काद्रा से विवाह करना चाहता हूँ । यह मुझे प्रिय है ।

काद्रवेय-काद्रवेयी—पाणि-ग्रहण करो भ्रातर, विवाह हम नहीं जानते। विवाह क्या होता है? यह नई बात है।

विश्व पंचजन—हमारे प्रपितामह वरुण पंचजन की आज्ञा है कि प्रत्येक युवक प्रत्येक युवती से विवाह के बिना नहीं मिल सकता।

(काद्रवेय-परिवार के लोग आश्चर्य से चुप रहते हैं।)

विश्व पंचजन—विवाह का अर्थ है उस युवक का केवल विवाहिता युवती के साथ रहना। वह और किसी के साथ नहीं रह सकती।

काद्रवेयी—नहीं, यह नहीं हो सकता। यह नई बात हमारे परिवार में नहीं हो सकती। इसका अर्थ तो यह हुआ कि मध्यमा इन काद्रों के साथ नहीं रह सकती। यह नहीं हो सकता काद्रवेय!

काद्रवेय—नहीं, ऐसा नहीं होगा। मेरे परिवार का नाश हो जायगा। नहीं भ्रातरः!

मध्यमा काद्रा—मुझे विश्व पंचजन प्रिय लगता है काद्रवेयी माँ! मैं और कहीं नहीं रह सकती। मैं उसी के साथ जाऊँगी।

काद्रवेय—मैं सब नई-नई बातें सुन रहा हूँ। क्या इस प्रदेश में आने से हम लोग अपनी पुरानी चली आई प्रथा को तोड़ देंगे?

ज्येष्ठ काद्र—अब तक हम लोग अकेले परिवार के साथ रहते थे। यहाँ हमारी तरह के बहुत-से परिवार रहते हैं। इन चार पक्षों में मैंने घूम-घूमकर ये परिवार देखे हैं। कितने सुखी हैं ये! कितने सम्पन्न हैं ये! फिरते रहना हमको स्वीकार नहीं है। वरुण पंचजन के पास बैठकर मुझे बहुत-सी नई बातें ज्ञात हुई हैं। हम मिलकर एक-दूसरे की सहायता कर सकते हैं, अपनी उन्नति कर सकते हैं। हमें आगे बढ़ना है।

काद्रवेय—आगे बढ़ना है, तो बढ़ो। चलो, आज ही हम लोग सब लेकर चलते हैं।

विश्व पंचजन—आगे बढ़ने का अर्थ उन्नति करना है काद्रवेय, घूमना नहीं।

काद्रवेय—हमको ज्ञान की क्या आवश्यकता है? हमारे पास क्या नहीं है?

ज्येष्ठ काद्र—हम देवों की बाबत कुछ नहीं जानते। वरण पंचजन कह रहे थे: सूर्य हमारा देव है, चन्द्रमा हमारा देव है, पृथ्वी हमारी देवी है, द्यावा हमारा देव है।

काद्रवेय—सूर्य और चन्द्रमा हमारे देव हैं, नई बात है।

ज्येष्ठ काद्र—हम लोग भी किसी गोत्र में मिलकर रहेंगे। वह हमारी रक्षा करेगा। हम लोग नये अस्त्र बनायँगे। मैंने एक गोत्र के मनुष्यों के पास फेंककर मारने वाले अस्त्र देखे हैं। क्या कहते हैं उनको, विश्व?

विश्व—बाण।

ज्येष्ठ काद्र—वही हमको चाहिए। कृषि के द्वारा जो अन्न उत्पन्न होगा, उसे हम खायँगे। उसका स्तुष् हमारे ये पशु खायँगे। कितना सुख होगा, पिता काद्रवेय! यह देखो, यह अन्न मैं लाया हूँ। (थोड़ा-सा निकालकर दिखाता है। सब लोग आश्चर्य और उत्सुकता से देखते हैं।) खाकर देखो। (काद्रवेय-परिवार खाता है।)

सब—सुन्दर है। हम और भी खायँगे।

मध्यमा काद्रा—इन परिवारों के घर कितने सुन्दर हैं। इनके पास चर्म-परिधान भी तो सुन्दर हैं। मैं विश्व के परिवार में रहूँगी, काद्रवेयी!

काद्रवेयी—तू क्या मुझे छोड़कर चली जायगी, काद्रा? कल को उषा भी चली जायगी इस तरह तो। फिर हम लोगों का परिवार

समाप्त न हो जायगा ? मैं बूढ़ी हूँ। मैं कहाँ तक तुम लोगों का निर्वाह कर सकूँगी काद्र ?

ज्येष्ठ काद्र—मैं विश्वावारा के साथ विवाह करूँगा न, यह मुझे प्रिय है, माँ !

काद्रवेय—इस अदल-बदल से तो यही अच्छा है कि अपने-अपने व्यक्ति अपने ही घर में रहें।

(ज्येष्ठ को इसका उत्तर नहीं सूझता, चुप रह जाता है ।)

विश्व पंचजन—वरुण पंचजन कहते हैं कि एक परिवार की कन्या उसी परिवार में नहीं रहनी चाहिए। वे तो एक गोत्र की कन्या का उस गोत्र के ही युवक से विवाह करने के पक्षपाती भी नहीं हैं।

काद्रवेय—सब नया-ही-नया, आतर, कैसे होगा ? मैं नहीं जानता, मैं तो इस प्रदेश में आकर भूल-सा गया हूँ। विवाह नया शब्द है। नई बात भी। कृषि भी नई बात है। काद्रवेयी, यह सब क्या हो रहा है ?

काद्रवेयी—यह एक और भी कठिनाई है। उषा जा रही है, मध्यमा जा रही है। एक ओर विश्वावारा आ रही है। ये पुत्र न जाने क्या करने जा रहे हैं काद्रवेय !

ज्येष्ठ काद्र—नया कुछ भी नहीं है। वरुण पंचजन कहते हैं, हम लोग सदा इस तरह नहीं रह सकते। जहाँ ठहरेंगे, वहाँ हमारा समाज बनेगा। हमें उस समाज के लिए अपने को तैयार करना होगा। लड़ाई-झगड़े से बचने के लिए यह आवश्यक है कि एक परिवार की कन्या दूसरे परिवार में जाय। इस तरह आपस में प्रेम बढ़ेगा, समाज सुदृढ़ होगा।

विश्व पंचजन—पिछले दिनों हमारे परिवारों में युवक दूसरे परिवारों की कन्याओं को भगाकर लाते रहे हैं, वरुण पंचजन इसका भी

विरोध करते हैं। इससे विरोध बढ़ता है युद्ध होते हैं। इसीलिए वरुण ऐसा कहते हैं। अब प्रायः परिवारों में दुहितर को भगाकर लाने की प्रथा भी बन्द हो गई है।

उषा काद्रा—मुझे यह अच्छा लगता है, काद्रवेय! उस दिन मैं मध्यमा के साथ एक गोत्र में जा पहुँची। उनका स्थान मुझे अच्छा लगा। लोग घर बनाकर रहने लगे हैं। अहो, कितने सुन्दर हैं यहाँ के पुरुष!

मध्यमा—चलते रहने से हम थक गए हैं। एक ही परिवार के लोगों को देखते हम थक गए हैं।

कनिष्ठ काद्र—मुझे यह सब-कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जो जहाँ जाना चाहता है, जाय। मैं तो घूमना चाहता हूँ। मैं काद्रवेय पिता के साथ ही रहूँगा।

मध्यम काद्र—मैं चाहता हूँ, जो होता है, उसे होने दो। विवाह बुरी बात नहीं है। मैं तो देख रहा हूँ, बराबर इसी तरह घूमते रहना कठिन है। हमारे घूमने की भी सीमा है। विश्वावारा के साथ ज्येष्ठ काद्र को मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ। एकान्त में, नदी के तट पर, चन्द्रमा से भरी रातों में वे दोनों बातें करते रहे हैं। मध्यमा काद्रा भी विश्व पंच-जन के साथ घूमती रहती है। ये चारों, मालूम होता है, रोके से रुक नहीं सकते। क्या प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार चलने का अधिकार नहीं है?

काद्रवेयी—मैं कब कहती हूँ कि ये विवाह न करें। करें, पर मैं तो काद्रवेय के साथ ही रहूँगी। मैं इसका साथ नहीं छोड़ सकती। भला, यह विवाह होगा कैसे?

काद्रवेय—जैसे भी हो, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। मैं रोक भी नहीं सकता। प्रत्येक को अपनी इच्छा के अनुसार चलने का अधिकार

है। मध्यम काद्र की बात मैं ठीक समझता हूँ। वही इसमें सबसे समझदार है। मेरे शरीर में अभी बल है। मैं अभी भ्रमण कर सकता हूँ। मैं एक स्थान पर नहीं रह सकता।

काद्रवेयी—मैं भी साथ चलूँगी।

कनिष्ठ काद्र—मैं भी। हाँ भ्रातर, विवाह करो। मैं देखूँ।

विश्व पंचजन—मैं वरुण पंचजन को लेकर आता हूँ। वे हमारे प्रदेश के, परिवार के सबसे बड़े पुरुष हैं। वे ही विवाह करायेंगे। (जाता है।)

उषा काद्रा—यदि उन्होंने न माना तो ?

ज्येष्ठ काद्र—उन्हीं की आज्ञा से मैं विश्वावारा के साथ विवाह कर रहा हूँ।

(सब लोग बैठकर मैरेय सुरा पीते हैं। आग बराबर जल रही है।)

मध्यम काद्र—(ऊपर आकाश में चन्द्रमा को देखकर) यह चन्द्रमा कितनी दूर होगा काद्रवेय ?

काद्रवेय—यह भी तो घूमता रहता है मध्यम !

कनिष्ठ—भला, इस पृथ्वी का कहीं छोर भी होगा ?

काद्रवेय—यह पृथ्वी हमारे घूमने के लिए बनाई गई है। यदि हमको एक जगह स्थिर होकर रहना होता, तो यह छोटी होती।

मध्यम—बड़ा विचित्र है। दिन में सूर्य निकलता है, रात को चन्द्रमा। क्या रात्रि को सूर्य नहीं निकल सकता ? नहीं, यह नहीं हो सकता। रात्रि को सूर्य निकलता, तो वह रात्रि ही क्यों होती ? मैं भी कितना भ्रान्त हो गया। और ये तारे ? क्या ये भी दूर होंगे ? अवश्य ये चन्द्रमा से भी दूर होंगे; किन्तु जो आग दूर पर जलती है, वह भी तो तारों-जैसी दिखाई देती है। अवश्य तारे इसी तरह आग जलने के चिह्न होंगे। क्यों काद्रवेय ?

काद्रवेय—मैं नहीं जानता मध्यम, न-जाने तू क्या सोचता रहता है ?

मध्यम—मुझे चन्द्रमा, रात्रि, नदी, उषा, सन्ध्या आदि को देखते रहना भला लगता है। जैसे ये मुझसे बातें करते हों।

कनिष्ठ—मुझे भ्रमण अच्छा लगता है। भ्रमण करते रहना, भोजन करना, सुरा-पान करना।

विश्वावारा—मुझे ज्येष्ठ काद्र से बातें करते रहना।

ज्येष्ठ काद्र—मुझे विश्वावारा को देखते रहना।

काद्रवेय—मैं भ्रमण करता रहा हूँ। वही मुझे अच्छा लगता है ?

काद्रवेयी—मुझे तेरे साथ रहना काद्रवेय ! पहले मुझे ये सब अच्छे लगते थे, अब तू ही अच्छा लगता है।

मध्यमा—मुझे विश्व पंचजन प्रिय है।

उषा—मुझे रुद्र पंचजन का आलिंगन। क्यों रुद्र ?

रुद्र—हाँ प्रिये ! लो, वे वरुण आ गए।

[विश्व के साथ वरुण का आना। वरुण पंचजन की बढ़ी हुई दाढ़ी, भोज-पत्र का उत्तरीय, विशाल नेत्र, लम्बी नाक। काद्रवेय से अवस्था में विशेष अन्तर न होने पर भी आकृति में गम्भीरता और तीक्ष्णदर्शिता प्रकट हो रही है। उस महाकाय आकृति के आने पर सब लोग बातें करना बन्द कर देते हैं। केवल काद्रवेय 'स्वागत' कहता है। इसके बाद सब 'स्वागत' कहते हैं। वरुण पंचजन अग्नि के समीप एक आसन पर बैठ जाते हैं।]

विश्व पंचजन—पितर वरुण, काद्रवेय परिवार-पति हैं। ये काद्रवेयी हैं।

काद्रवेय—पितर वरुण, परिवार ने पुरानी प्रथा को तोड़ दिया है।

काद्रवेयी—पितर वरुण, विवाह क्या होता है ?

विश्व पंचजन—पितर वरुण, मैं मध्यमा काद्रा से विवाह करना

चाहता हूँ।

वरुण—भ्रातर काद्रवेय, विवाह पशुओं से ऊपर उठे हुए मनुष्य के लिए आवश्यक कार्य है। पशु बिना हाथ के खाते हैं, हम हाथों से भोजन करते हैं। हम हाथ से कई अन्य कार्य करते हैं। इससे सिद्ध है, हम पशु नहीं हैं। इसलिए हम पशुओं की तरह नहीं रह सकते। विवाह पशुता को रोकने के लिए है।

काद्रवेय—मैं कुछ भी नहीं समझा।

काद्रवेयी—मैं कुछ-कुछ समझी हूँ पितर वरुण! हम पशु नहीं हैं, मनुष्य हैं। फिर पशु की तरह नहीं रह सकते। हमें मनुष्य बनना होगा।

काद्रवेय—किन्तु तेरे समझने से मैं कैसे समझ सकता हूँ?

काद्रवेयी—यही कि जैसे पशु बिना नियम के एक-दूसरे से मिलते हैं, वैसे हमको नहीं मिलना चाहिए। मैं कभी-कभी सोचती हूँ, ऐसा हम क्यों करते हैं?

वरुण—(काद्रवेय से) यदि काद्रवेयी को तुम्हारे सामने से कोई उठाकर ले जाय, तो तुम्हें...।

काद्रवेय—(एकदम) मैं उसको मार डालूँगा पितर वरुण! यह मुझे प्रिय है। मुझे कनिष्ठ और मध्यम काद्र भी कभी-कभी बुरे लगते थे।

काद्रवेयी—यह मुझे प्रिय है, पितर!

वरुण—ठीक है। तुम्हें बुरा लगेगा। इस बुरा लगने पर युद्ध रोकने के लिए आवश्यक है कि युवक-युवती एक-दूसरे को सदा के लिए चुन लें। और कोई व्यक्ति उन दोनों के बीच में न आय। इस चुनने का नाम ही 'विवाह' है।

मध्यम काद्र—यह ठीक है! युद्ध रोकने के लिए यह आवश्यक है,

पितर वरुण ! विवाह इसीलिए आवश्यक है।

काद्रवेय—जब मध्यम काद्रवेय कहता है, तब यह अवश्य ठीक होगा। मैं इसको परिवार में समझदार मानता हूँ, पितर वरुण ! किन्तु एक स्थान पर रहना तो किसी तरह ठीक नहीं है।

वरुण—हम पशुओं से इसलिए श्रेष्ठ हैं कि हम सोच सकते हैं, वे सोच नहीं सकते।

काद्रवेयी—ठीक तो है, काद्रवेय, वे कहाँ सोच सकते हैं। अरे, वे तो बोलते भी नहीं हैं। सचमुच आज यह बात समझ में आई।

वरुण—मनुष्य इसीलिए श्रेष्ठ है कि वह ज्ञानी है। ये नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु सब मनुष्य के लाभ के लिए हैं। हम इनके लिए नहीं हैं।

काद्रवेयी—बिलकुल, बिलकुल। आहा, क्या सुन्दर बात है काद्रवेय ! पशु हमारे लिए हैं, ठीक तो है।

वरुण—इन पर्वतों, नदियों, वृक्षों, पशुओं के द्वारा हम बहुत-कुछ जान सकते हैं, उनसे लाभ उठा सकते हैं। जब हमारा समाज बढ़ जायगा, तब हम...। तुमने कुटीर बनाया है, पशु कहाँ बना पाते हैं ?

जेष्ठ—विवाह, वरुण पंचजन !

विश्व-पंचजन—हाँ, पितर !

रुद्र—(विश्व और मध्यमा काद्रा से, ज्येष्ठ काद्र और विश्ववारा से तथा रुद्र और उषा से) देखो, अग्नि सबको जलाता है, सबको प्रकाश देता है।

दो-दो का युग्म—हाँ, वरुण पितर !

वरुण—यह पृथ्वी हमको धारण करती है।

दोनों—हाँ, वरुण पितर !

वरुण—यह चन्द्रमा हमको रात्रि में प्रकाश देता है, मार्ग दिखाता है।

दोनों—हाँ, पितर !

वरुण—इनको साक्षी करके कहो, तुम सदा एक-दूसरे के साथ रहोगे और किसी के साथ नहीं सोओगे।

दोनों—हाँ, पितर, हम ऐसा ही करेंगे।

वरुण—सुख-दुःख में।

दोनों—हाँ, पितर!

वरुण—बहुत से पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न करेंगे।

दोनों—हाँ पितर, बहुत-से पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न करेंगे।

वरुण—दोनों पाणि-ग्रहण करो।

दोनों—(पाणि-ग्रहण करके) वरुण पितर, हम यही कहते हैं।

वरुण—तुम्हारा विवाह हो गया।

काद्रवेयी—अरे काद्रवेय, कितनी अच्छी बातें हैं। क्या मेरा भी विवाह हो सकता है वरुण पिता?

काद्रवेय—काद्रवेयी, हमको उसकी आवश्यकता नहीं है। यही तो हम बहुत दिनों से करते आ रहे हैं।

वरुण—तुम सब लोग अपनी पत्नियों को लेकर रहो, सृष्टि बढ़ाओ कृषि करो, सुन्दर-सुन्दर घर बनाओ, पशुओं को पालो, एक-दूसरे की सहायता करो।

सब—ऐसा ही करेंगे वरुण पिता!

मध्यम काद्र—पिता वरुण, यह रात-दिन, उषा-सन्ध्या, चन्द्र, नदी आदि मुझे बहुत प्रिय लगते हैं। ऐसा लगता है, जैसे मुझसे ये कुछ कहते हैं; पर मैं समझ कुछ नहीं पाता।

वरुण—मैं भी कुछ समझ नहीं पाता; पर जितना मैं जानता हूँ, वह तुम्हें बताऊँगा। तुम मेरे साथ चलो मध्यम काद्र!

काद्रवेयी—पिता वरुण, यह मैरेय पियो, लो। तुम सब भी पियो। (सब पीते हैं, फिर 'हो-हो' करके गाने-नाचने लगते हैं। कर्करी बजती है।)

डॉक्टर रामकुमार वर्मा

डॉक्टर रामकुमार वर्मा हिन्दी के सुविख्यात कवि, सम्मान्य समालोचक एवं मनस्वी नाटककार हैं। आपने ही सर्वप्रथम संवत् १९८७ विक्रमी में 'बादल की मृत्यु' नामक एकांकी नाटक की रचना की थी। उसके बाद भी आप कविता के साथ-साथ एकांकी की रचना करते रहे। नाटक के क्षेत्र में जो स्थान 'प्रसाद' जी ने बना लिया है, एकांकी के क्षेत्र में वह सम्मान वर्माजी को प्राप्त है। आपके अनेक काव्य तथा आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। एकांकी-संग्रहों में 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'सप्त-किरण' तथा 'कौमुदी-महोत्सव' आदि उल्लेखनीय हैं।

पात्र-परिचय

अविनाश—एक सुन्दर नवयुवक, जिसका विवाह तीन महीने पहले सुलेखा से हुआ है।

सुलेखा—एक सुन्दर नवयुवती, जिसका विवाह तीन महीने पहले अविनाश से हुआ है।

आँखों का आकाश

स्थान—इलाहाबाद में टैगोर-टाउन।

समय—यूनिवर्सिटी-कानवोकेशन से एक दिन पूर्व की संध्या।

[विवाह के अनंतर प्रेम और आत्मीयता की उष्णता से सजग एक कमरा। कमरे की चमक-दमक में दाम्पत्य-सुख की किरण अव्यक्त होकर भी सभी वस्तुओं पर आलोक डाल रही है। रेशम के परदे। दीवार पर राधा-कृष्ण और रोमियो-जूलियट के मिलन-चित्र, एवं प्रकृति के सुन्दर दृश्य हैं। फर्श पर कालीन बिछा हुआ है। एक नये डिजाइन का ड्राइंग-रूम-सूट रेशमी कवर से सजा हुआ कमरे के बीचों-बीच में है। सूट के बीच में एक पालिश की हुई बरमा-टीक की तिपाई है, जिस पर गुलाब और चमेली के फूलों का फूलदान सजा हुआ है। एक बड़ी घड़ी, जिसमें शाम के सात बजे हैं। उसके नीचे कैलेण्डर है, जिसमें सितम्बर मास का पृष्ठ है।

इस समय कमरे में अविनाश और सुलेखा हैं। अविनाश सिल्क का कुरता और धोती पहने हुए है। बिजली के प्रकाश में अविनाश का कुरता उदय होते हुए सूर्य की किरणों की तरह चमक रहा है। बाल ग्लिसरीन से सँवारे हुए और वस्त्र ऐशेज आव् रोजेज की सुगन्धि लिये हुए। सुलेखा आबेरवाँ की साड़ी और नीले रंग का ब्लाउज़ पहने हुए है। बालों में लहर और सुगन्धि, जो सम्भवतः जैसमीन की है। हल्के और नये डिजाइन के आभूषण जिनमें मूल्य की अपेक्षा शोभा अधिक है। नेत्रों में श्याम रेखा और माथे में हल्का कुंकुम-बिन्दु। मुख पर परिव्याप्त स्मिति और कपोल-कूप। हाथों में एक रेशमी चूड़ी, जो ओपल की भाँति अनेक रंगों की किरणें फेंक सकती है।

दोनों का विवाह हुए अभी तीन महीने हुए हैं और दोनों विवाह-सुख की नींद से आलस्यमय जागरण की अवस्था में हैं। दोनों के स्वप्न और सत्य फूल और काँटों पर भूलते हुए चले जा रहे हैं।

सुलेखा सोफे पर बैठी हुई मोज़ा बुन रही है। उसकी दृष्टि स्थिर और नीचे है। और अविनाश कमरे में कुछ गुनगुनाता हुआ टहल रहा है।)

अवि०—(स्वर से टहलते हुए) तुम्हारी आँखों का आकाश;

सरल आँखों का नीलाकाश,

खो गया मेरा खग अनजान······

सुलेखा—(मौजा बुनते हुए) क्या खो गया जी ?

अवि०—(स्वर से ज़रा ज़ोर से) खो···गया···मेरा···खग··· अनजान !

(सुलेखा मौन है और बुनने में लीन है।)

अविनाश—(अभिनय करते हुए) कवि कहता है कि मेरा मन-रूपी पक्षी खो गया !

सुलेखा—अच्छा ? पक्षी खो गया ? कहाँ ?

अविनाश—आँखों के नीले आकाश में !

सुलेखा—आँखों में भी नीला आकाश है ?

अविनाश—आँखों में श्याम पुतली है न ? वह इतनी सुन्दर और व्यापक है कि उसमें मन-रूपी पक्षी खो गया !

सुलेखा—ओफ, यह आँखों की पुतली की लम्बाई-चौड़ाई है ! इन कवियों की लम्बी-चौड़ी बातों को क्या कहूँ ! लेकिन आँखों की पुतली तो काली होती है, नीली नहीं ?

अविनाश—नीली भी हो सकती है !

सुलेखा—नीली तो अँगरेज लड़कियों की होती है। अच्छा, कवि यहाँ किसी अँगरेज तरुणी ही को लक्ष्य करके कह रहा है !

अविनाश—सम्भव है।

सुलेखा—सम्भव क्या, यही है। अच्छा यह कवि महोदय कौन हैं?

अविनाश—कवि? कवि पण्डित सुमित्रानन्दन पंत हैं।

सुलेखा—पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त! अच्छा, अच्छा यह बतलाइए कि यह कवि वही तो नहीं हैं जिनके हम लोगों की तरह लम्बे-लम्बे बाल हैं?

अविनाश—हाँ, वही। लेकिन क्या तुमने उन्हें कभी देखा है?

सुलेखा—देखा तो नहीं। किसी पुस्तक में उनकी तस्वीर अवश्य देखी है। बड़ी-बड़ी आँखें हैं, लम्बी नाक है, पतले ओठ हैं!

अविनाश—तुमने तो बड़े ध्यान से उनकी तस्वीर देखी है।

सुलेखा—सुना था, वह बड़े भारी कवि हैं। देखो न, तुम्हें भी तो उनकी कविताएँ याद हैं?

अविनाश—हाँ, वह हमारे होस्टल में एक बार आये थे। मुझसे उनकी अच्छी जान-पहचान हो गई है। उन्होंने यही कविता सुनाई थी बड़े स्वर से।

सुलेखा—अच्छा, और यह तो बताओ, उनका विवाह हुआ या नहीं?

अविनाश—अपना विवाह हो जाने पर तुम्हें सबके विवाह की चिन्ता है।

सुलेखा—(लज्जित होकर) नहीं, यह बात नहीं है। यों ही पूछती हूँ कि उनका विवाह हुआ या नहीं?

अविनाश—सुनते हैं, नहीं हुआ।

सुलेखा—क्यों?

अविनाश—अब मैं यह क्या जानूँ! अपनी-अपनी इच्छा है, नहीं किया होगा।

सुलेखा—हैं तो बड़े सुन्दर!

अविनाश—हाँ, कोई भी युवती उनसे विवाह कर सकती थी।

सुलेखा—युवती या युवक ?

अविनाश—(कौतूहल से) युवक ?

सुलेखा—हाँ, जब मैंने पहले उनकी तस्वीर देखी तब ज्ञात हुआ कि कोई आजकल के फैशन की लड़की है। बाद में जब नीचे नाम पढ़ा तब मालूम हुआ कि कवि महोदय हैं।

अविनाश—(किंचित् हँसी के साथ) ठहरो, मैं पण्डित सुमित्रानन्दन को यह लिखूँगा।

सुलेखा—मेरा उनसे परिचय ही नहीं, वह मुझसे कहेंगे ही क्या ?

अविनाश—क्यों ? तुम उनके एक परिचित पाठक की पत्नी हो, यही मैं उन्हें लिख दूँगा।

सुलेखा—लिख दो। एक तो वह मुझ पर नाराज होंगे नहीं। यह तो एक सरल विनोद है। और अगर मुझ पर नाराज होने के लिए वह यहाँ आये भी, तो मैं उन्हें चाय पिला दूँगी। बस वह प्रसन्न हो जायँगे।

अविनाश—(प्रेम से) तुम बहुत अच्छी हो सुलेखा ! कोई तुमसे नाराज रह ही नहीं सकता।

सुलेखा—(मुँह बनाकर) चलो, अब यह प्रशंसा चली !

अविनाश—नहीं सुलेखा, मैं अपने हृदय की बात कहता हूँ। मुझी को देखो, जब से हम लोगों का विवाह हुआ है तब से एक बार भी हम लोगों में कभी अनबन हुई है ?

सुलेखा—मैं रही ही यहाँ कितने दिनों हूँ !

अविनाश—यह बात दूसरी है। लेकिन उलझने वाली तबियत का तो एक दिन में पता चल जाता है।

सुलेखा—यह बात तो सही है।

अविनाश—फिर क्यों न कहूँ कि तुम बहुत अच्छी हो। और फिर तुम मुझे समझती हो और मैं तुम्हें समझता हूँ। (कुरसी पर बैठ जाता है। उसी स्वर में) जो लोग अपने गृहस्थाश्रम की शिकायतें करते हैं, बेवकूफ हैं। मिलकर रहना नहीं जानते। हम लोगों की तरह रहें तो समझें कि जीवन की फुलवारी में फूल-ही-फूल हैं, काँटा एक भी नहीं।

सुलेखा—सच है।

अविनाश—सच है न?

सुलेखा—लेकिन यह तुम्हारे ही स्वभाव का परिणाम है कि मेरा मन इतना प्रेममय हो गया है कि वह काँटों में भी फूल की कल्पना कर लेता है।

अविनाश—नहीं, यह तो तुम्हारे हृदय की उदारता है कि तुम ऐसा कहती हो। पर सचमुच हम लोगों का जीवन ऐसा ही है जैसा इस फूलदान में लगे हुए चमेली और गुलाब के फूल का, जिनके एक-एक काँटे बीनकर अलग कर दिए गए हैं।

सुलेखा—यह हम लोगों का भाग्य है।

अविनाश—नहीं सुलेखा, वास्तव में तुम ऐसी सुलेखा हो जिसने मेरे जीवन का चित्र इतना सुखमय खींच दिया है।

सुलेखा—ओह, (बुनना छोड़कर) आपसे यह बात सुनकर मैं कितनी सुखी हूँ!

अविनाश—मैं तो यह कहना चाहता हूँ सुलेखा, कि जब से विवाह-जैसा सम्बन्ध संसार में स्थापित हुआ, तब से हम लोगों से अधिक सुखी शायद कोई भी न होगा!

सुलेखा—तुम कितने सुन्दर हो अविनाश! जैसे मेरा सुख साकार होकर मेरे सामने है, और मैं उसकी आँखों-से-आँखें मिलाकर कह रही हूँ कि तुम मेरे हो और मैं तुम्हारी हूँ!

अविनाश—और सुलेखा, यदि तुम मुझसे पूछो तो मैं कहूँ कि विद्यार्थी-जीवन के मेरे सारे स्वप्न जैसे तुम्हारे मधुर रूप में चित्रित हो गए हैं, और मैं कह रहा हूँ कि संसार में किसी के स्वप्न सच्चे नहीं होते; किन्तु केवल मेरे ही स्वप्न सच्चे हुए हैं। अथवा मैं यह कहूँ कि मेरा सत्य ही मेरे विद्यार्थी-जीवन में स्वप्न बनकर खेल रहा था, आज वह तुम्हें पाकर अपने असली रूप में आ गया!

सुलेखा—अविनाश, अगर कोई लहर से पूछे कि तू ने तट को छूकर कितना सुख पाया तो वह मेरी ओर संकेत कर देगी।

अविनाश—ओह, तुम कितनी अच्छी कल्पना कर सकती हो! सुलेखा, यदि तुम चाहो तो कवि हो जाओ।

सुलेखा—जिस तरह भाषा भावों को पाकर कविता बन जाती है, उसी तरह तुम्हें पाकर मैं धन्य हो गई!

अविनाश—मैं फिर कहता हूँ, तुम कविता बहुत अच्छी लिख सकती हो, सुलेखा! प्रयत्न करके देखो। तब प्रत्येक कवि-सम्मेलन में तुम्हारे साथ जाकर मैं कितना गौरवान्वित होऊँगा, लोग मेरी ओर संकेत करके कहेंगे कि यह कवयित्री सुलेखा के पति हैं। सुलेखा, तुम मेरे सौभाग्य का अनुमान नहीं कर सकतीं! मैं तुम्हारी कविता की नोटबुक अपने ही पास रखूँगा, और जब तुम कविता पढ़ते समय संकेत से अपनी नोटबुक मुझसे माँगोगी तब मैं अपने चारों ओर देखकर लोगों की आँखों-से-आँखें मिलाकर मौन भाषा में कहूँगा कि तुम लोग मेरी ही पत्नी की कविता सुनने के लिए इतने उत्सुक हो! और तब मैं तुम्हारी ओर कविता की नोटबुक बढ़ा दूँगा। उस समय तुम अनुमान कर सकोगी कि वसन्त भी कोकिल के स्वर से उतना सुखी नहीं होगा जितना मैं तुम्हारी कविता सुनकर!

सुलेखा—(मुस्कराकर) तुम मुझे आदर देते हो अविनाश! अन्यथा

जो-कुछ भी मैं होऊँगी वह तुम्हारे ही गुणों से शक्ति प्राप्त करके हो सकूँगी। तुम मुझे अब लज्जित कर रहे हो अविनाश !

अविनाश—नहीं सुलेखा, तुम वास्तव में देवी हो ! तुम्हें पाकर मैं धन्य हूँ ! तुम्हारे ही गुणों से मेरा जीवन सुखी होगा। देखो, हम लोगों का विवाह हुए तीन महीने हुए। यह सितम्बर है, (कैलेण्डर की ओर दृष्टि) हम लोगों का विवाह जुलाई में हुआ था। (सुलेखा सिर हिलाती है) तब से हम लोगों में कोई मन बिगड़ने वाला विवाद नहीं हुआ। कोई लड़ाई नहीं हुई। प्रायः विवाद और संघर्ष इन्हीं तीन महीनों में हुआ करते हैं, और वह समय अब निकल गया और हम लोग एक-दूसरे के अब भी उतने ही समीप हैं, जितने विवाह के दूसरे दिन थे।

सुलेखा—उससे भी अधिक, अविनाश !

अविनाश—हाँ, सचमुच उससे भी अधिक !

सुलेखा—ओह······!

अविनाश—(चौंककर) क्यों ? यह ठण्डी साँस कैसी ? क्या बात है ?

सुलेखा—ऐसा ही !

अविनाश—(उद्विग्नता से) तो जल्दी बतलाओ, जल्दी बतलाओ।

सुलेखा—(ठण्डी साँस लेकर मुस्कराते हुए) तुम बहुत दूर बैठे हो !

अविनाश—(हँसते हुए) ओह, तुम बहुत नटखट हो, मैं तो घबरा गया ! (पास आकर बैठता है।) अब तो ठीक है ?

सुलेखा—हाँ, अब ठीक है।

अविनाश—सुलेखा, हम लोगों में कभी संघर्ष नहीं होगा।

सुलेखा—कभी नहीं। बात यह है कि संघर्ष तो तब होता है जब तुम्हारी कोई बात मुझे अच्छी न लगे और मैं उसे पत्थर की तरह उछालकर तुम्हारे ही पास लौटा दूँ, या तुम्हें मेरी कोई बात अच्छी न लगे और तुम मेरा तिरस्कार कर दो। लेकिन जब तुम्हारी बात मुझे काँटे की तरह लगते हुए भी मेरे हृदय में फूल की तरह समा जाय तब फिर विवाद का कोई अवसर ही नहीं आ सकता !

अविनाश—तुम कितनी अच्छी तरह से परिस्थितियों को समझती हो, सुलेखा ! हम लोगों के वैवाहिक जीवन का सूत्र कितनी दृढ़ता से बँधा हुआ है ! राधा-कृष्ण की तरह या रोमियो-जूलियट की तरह ! (चित्रों की ओर संकेत करता है।)

सुलेखा—अनेक विपत्तियों से जर्जर होने पर भी प्रेम वैसा ही बना रहा, बल्कि और भी बढ़ गया। यही प्रेम तो जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

अविनाश—सुलेखा, तुम्हारे प्रत्येक शब्द में जैसे एक तारा जगमगा उठता है, और जब तुम देर तक मुझसे बातें करती हो तब जैसे मेरे चारों ओर एक आकाश-गंगा-सी बहने लगती है।

सुलेखा—और बीच में बैठे हुए तुम कौन हो ? चन्द्रमा ?

अविनाश—और तुम, चाँदनी ?

सुलेखा—तुम बहुत सुन्दर हो, अविनाश !

अविनाश—तुम बहुत कोमल स्वभाव की हो, सुलेखा ! हम लोग अलग होकर भी मिले रहेंगे। लहरों की तरह अलग-अलग होकर भी साथ-ही-साथ बहते रहेंगे। हम और तुम और तुम और हम। क्यों सुलेखा ? क्या हम और तुम एक-दूसरे से कभी रुष्ट हो सकते हैं ?

सुलेखा—कभी नहीं।

अविनाश—चाहे मेरी कोई बात कभी तुम्हें बुरी भी क्यों न लगे ?

सुलेखा—हाँ, फिर भी। जैसे अब यही उदाहरण लो। मैं मौजा बुन रही थी और तुम कविता पढ़ रहे थे। और कोई स्त्री होती तो कहती, कविता मत पढ़ो, मैं काम कर रही हूँ। कोई बिगड़े दिमाग की होती तो कहती, शोर मत करो, मेरे काम में गड़बड़ी होती है। लेकिन मैंने एक शब्द भी नहीं कहा।

अविनाश—तो क्या तुम्हें मेरा कविता पढ़ना अच्छा नहीं लगा ?

सुलेखा—नहीं, यह बात नहीं है, लेकिन···बात यह है कि··· यानी जब कोई काम करता है न, तब काम···काम ही अच्छा लगता है। काम में कविता कहाँ सूझती है ! कविता तो लोग समय से पढ़ते हैं···यानी कविता समय से पढ़ी जाती है। (हिचकिचाकर) यानी आप मेरी बात समझे न ?

अविनाश—तो कविता पढ़ने का कौन सा समय है ?

सुलेखा—कविता पढ़ने का ? कविता पढ़ने का समय···मान लीजिए, मैं लॉन पर बैठी हूँ; पान खा रही हूँ; मौजा बुन····नहीं, नहीं, अपने बाल सँवार रही हूँ। उस समय कविता पढ़नी चाहिए। यानी वह समय कविता पढ़ने का है। अब मैं यहाँ काम कर रही हूँ··· लेकिन कोई बात नहीं, मैंने आपत्ति तो नहीं की न····?

अविनाश—आपत्ति की बात नहीं है। बात है कविता सुनने की। यह भी तो समझना चाहिए कि जब मैं कविता पढ़ रहा हूँ तब उस समय कोई काम हाथ में लेना ही नहीं चाहिए। इधर मैं कविता पढ़ रहा था और उधर तुम मौजा बुनने बैठ गईं···

सुलेखा—तो मैं बैठी तो तुम्हारे सामने ही रही। उठकर तो कहीं गई नहीं। तुम कविता पढ़ते रहे, मैं सुनती रही। मैंने तुम्हें कविता

पढ़ने से तो नहीं रोका। और काम भी क्या! तुम्हारे लिए ही तो मोजा बुन रही थी।

अविनाश—धन्यवाद !

सुलेखा—धन्यवाद ? क्या मैं कोई गैर हूँ जो तुम मुझे धन्यवाद दे रहे हो ?

अविनाश—गैर तो मैं तुम्हें नहीं कह रहा। मैं तो शिष्टता के नाते कह रहा हूँ।

सुलेखा—जिसका तात्पर्य यह है कि मैं अगर किसी काम पर आपको धन्यवाद न दूँ तो मैं शिष्ट नहीं हूँ।

अविनाश—समाज का नियम तो ऐसा ही है।

सुलेखा—तो आप चाहते हैं कि जब-जब आप मुझे कविता सुनायँ, मैं आपको धन्यवाद दूँ।

अविनाश—मुझे तो धन्यवाद की आवश्यकता नहीं है।

सुलेखा—आपको आवश्यकता नहीं है, किन्तु अगर मैं धन्यवाद दूँ तो आपको कोई आपत्ति न होगी।

अविनाश—धन्यवाद में किसे आपत्ति हो सकती है ?

सुलेखा—तो दिन-भर में आप मेरे लिए जितने काम करें, सबके लिए मैं धन्यवाद कहा करूँ ?

अविनाश—तुम चाहे न कहो, किन्तु आदत होनी चाहिए।

सुलेखा—तो दिन-भर मैं धन्यवाद ही कहती रहूँ। अच्छी बात है, मेरी इच्छा के विरुद्ध कविता सुनाने के लिए भी आपको धन्यवाद। (हाथ जोड़ती है।)

अविनाश—सुलेखा, यह बात व्यंग्य से कही गई है।

सुलेखा—इसमें व्यंग्य की कौन सी बात है ? जो तुमने चाहा, वह मैंने कहा।

अविनाश—तो यह धन्यवाद आपके हृदय से नहीं निकला !

सुलेखा—आपके लिए चाहे धन्यवाद हृदय से निकले या न निकले। वह है तो धन्यवाद ।

अविनाश—सुलेखा ! विवाह के सिर्फ तीन महीनों के भीतर ही मैं आपको स्वर से कविता सुनाऊँ और आप मुझे हृदय से धन्यवाद भी न दे सकें ।

सुलेखा—और विवाह के सिर्फ तीन महीने बाद मैं मौजा बुनने के लिए बैठूँ और आप मुझे काम न करने दें और यहाँ-वहाँ की कविता सुनायँ ।

अविनाश—आप क्या समझें कि पं० सुमित्रानन्दन की कविता कितनी उत्कृष्ट है !

सुलेखा—आप ही सिर्फ कविता समझ सकते हैं और मैं तो निरी मूर्ख हूँ ।

अविनाश—(उठते हुए) कविता न समझने वाला वास्तव में मूर्ख होता है ।

सुलेखा—(दृढ़ता से) तो आपने मुझे मूर्ख भी कह दिया !

अविनाश—मैंने तो उसे मूर्ख कहा है जो कविता नहीं समझता ।

सुलेखा—कहते जाइए, मैं मूर्ख हूँ !

अविनाश—तुम तो मुझे बहुत विचित्र मालूम होती हो, सुलेखा ! जरा-सी बात.........

सुलेखा—अच्छा ? मैं विचित्र भी हूँ ! मूर्ख हूँ, विचित्र हूँ ! और क्या-क्या हूँ ?

अविनाश—एक साधारण-सी बात और आप.........

सुलेखा—यह साधारण-सी बात नहीं है, यह समझ की बात है ।

अविनाश—तो आप भी मुझे ना-समझ कह रही हैं ?

सुलेखा—आपकी समझ आपसे जो कहे, उसे समझिए, मैं क्या कहूँ ?

अविनाश—तो क्या आपके कहने का मतलब यह है कि जब-जब आप मौजा बुनने के लिए बैठें तब-तब अपने को समझाए रहूँ कि मैं आपके सामने कविता न पढ़ूँ ?

सुलेखा—तो क्या आप यह भी समझते हैं कि जब-जब आप कविता पढ़ें, मैं मौजा बुनने का नाम भी न लूँ ?

अविनाश—यह तो मैंने कभी नहीं कहा।

सुलेखा—और जब-जब आप कविता पढ़ें तब-तब मैं आपको अपने···अपने हृदय से धन्यवाद दूँ। और सदैव धन्यवाद दूँ।

अविनाश—यह भी मैंने कभी नहीं कहा।

सुलेखा—आपने नहीं कहा तो मैं झूठ बोल रही हूँ ? ठीक है, मैं मूर्ख हूँ, मैं विचित्र हूँ और अब मैं झूठ बोलने वाली भी हूँ !

अविनाश—फिर आप उसी बात पर जाती हैं ! उसे दुहराने की आवश्यकता ?

सुलेखा—यानी आप यह सब मान रहे हैं कि मैं मूर्ख हूँ, विचित्र हूँ और झूठ बोलने वाली हूँ। यही आपका प्रेम है, यही आपका व्यवहार है ?

अविनाश—मैंने क्या बुरा व्यवहार किया ?

सुलेखा—जिस पत्नी को आये तीन महीने से अधिक नहीं हुए उसे पति मूर्ख, विचित्र और झूठ बोलने वाली कहे ! यह व्यवहार ठीक कहा जा सकता है ?

अविनाश—आप तो व्यर्थ बातें बढ़ा रही हैं !

सुलेखा—अच्छा, व्यर्थ बातें बढ़ाने वाली भी कह लीजिए। कहते

जाइए, आपके साहित्य में जितनी भी गालियाँ हैं उन सबको आज ही मेरे सामने कह डालिए !

(एक दबी हुई सिसकी)

अविनाश—मुझे यह सब अच्छा नहीं मालूम होता सुलेखा ?

सुलेखा—आपको क्यों अच्छा मालूम होगा ? आपकी फुलवारी में तो फूल-ही-फूल हैं ! काँटा एक भी नहीं ! यही कहा था न ? यहाँ इतने काँटे हैं कि केवल तीन महीनों ही में वे सब तरफ से चुभने लगे !

अविनाश—मैं नहीं कह सकता कि मैं जीवन में आपको कभी समझ सकूँगा !

सुलेखा – और अभी दो क्षण पहले कह रहे थे कि मैं तुम्हें बहुत अच्छी तरह समझता हूँ ! 'हम लोगों का जीवन ऐसा ही है जैसा इस फूलदान में लगे हुए चमेली और गुलाब के फूल का।' यह जीवन है ? (फूलदान के फूल निकालकर फेंक देती है।) 'हम लोग अपने वैवाहिक जीवन में बहुत सुखी हैं जैसा सुखी शायद ही कोई संसार में होगा !' किसने झूठ बोला—मैंने या आपने ?

अविनाश—और क्या आपने भी अभी दो मिनट पहले नहीं कहा था कि मेरा सुख साकार होकर मेरे सामने है ! और मैं उसकी आँखों से आँखें मिलाकर कह रही हूँ कि तुम मेरे हो और मैं तुम्हारी हूँ।

सुलेखा—आपने कहलाया तो मैंने कहा।

अविनाश—और क्या आपने अभी मुझसे बगैर कहलाये यह नहीं कहा था—अगर कोई लहर से पूछे कि तूने तट को छूकर कितना सुख पाया तो वह मेरी ओर संकेत कर देगी ? कौन झूठा था—मैं या तुम ?

सुलेखा—(व्यथित होकर) तुम···तुम···धोखा तो मैंने खाया ! मैं नहीं जानती थी कि आप इतने कठोर हैं, इतने झूठे हैं ! मैं व्यर्थ ही ठगी गई !

अविनाश—तो क्या वे सब बातें झूठ हैं जो आपने मेरी प्रशंसा में कहीं ?

सुलेखा—जैसे जो बातें आपने मेरी प्रशंसा में कहीं वे सब सच ही हों ! जब पति-पत्नी एक दूसरे को समझ ही नहीं सकते तो उन्हें अलग हो जाना चाहिए। (व्यंग्य से) हिन्दू-धर्म ! लोग बड़ी तारीफ करते हैं लेकिन यह इतना गया-बीता धर्म है कि इसमें सम्बन्ध-विच्छेद के लिए कोई स्थान ही नहीं है !

अविनाश—बहुत आगे मत बढ़ो, सुलेखा ! मैं तो समझता था हम लोग बहुत सुखी हैं।

सुलेखा—यह आप अपने ही सम्बन्ध में कहें, मेरे सम्बन्ध में नहीं। मैं तो एक ऐसे इन्द्र-जाल में फँस गई हूँ, जहाँ से सिर्फ मरकर ही निकल सकती हूँ !

अविनाश—तो क्या आप समझती हैं कि यह हानि केवल आपकी ही हुई है ? मेरी आपसे अधिक हानि हुई है ! मेरा सारा गृहस्थ-जीवन ही नष्ट हो गया ! मैं संसार में क्या उन्नति करूँगा जब मेरे कलेजे पर ऐसी चोट लगी है, जो दिन-दिन भरने के बजाय और भी गहरी होती जाती है। जिसके घर में ही आग लगी हो वह विश्राम कहाँ पा सकता है !

सुलेखा—(व्यंग्य से) और मैं फूलों की सेज पर सो रही हूँ !

अविनाश—आप ही ने तो यह आग लगा रखी है। आदमी विवाह करता है अपने जीवन की सुख-शान्ति के लिए। यहाँ विवाह होता है रही-सही सुख-शान्ति के नष्ट करने के लिए।

(दृढ़ता से) यह विवाह का सुख है जहाँ छोटी-छोटी बातों पर कुढ़ना पड़ता है।

सुलेखा—(तीव्रता से) आप मुझे क्या समझते हैं ! और अपने

को क्या समझते हैं ! क्या आप ईश्वर के अवतार हैं ? सारे दोष मेरे हैं और आप बिलकुल निर्दोष हैं ?

अविनाश—हाँ, हाँ, सारे दोष आपके हैं। मैं तो सीधी तरह कविता सुना रहा था। बीच में आपने ही यह बखेड़ा खड़ा कर दिया। आप ही ने मुझे धोखा दिया है, आप ही ने मुझे अपमानित किया है ! आप····आप····

सुलेखा—(उठ खड़ी होती है) आप मुझसे किस तरह की बातें करते हैं ? आपको इस तरह बातें करने का क्या अधिकार है ?

अविनाश—(कुछ आगे बढ़कर) और आप मुझसे किस तरह की बातें कर रही हैं ?

सुलेखा—क्या आप मुझसे लड़ना ही चाहते हैं ? आप किस तरह के आदमी हैं ? मैंने अभी तक नहीं समझा था कि जिसके साथ मेरा विवाह हुआ है वह सचमुच ही···वह सचमुच ही···

अविनाश—सचमुच ही, सचमुच ही······क्या मैं सचमुच ही क्या हूँ ?

सुलेखा—झगड़ालू, धोखेबाज, निर्दयी और···और···

अविनाश—सुलेखा, अपनी जबान काबू में रखो, मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ।

सुलेखा—मैं भी ऐसी बातें सुनने की आदी नहीं हूँ। ऐसे विवाह पर धिक्कार है जहाँ पुरुष अपनी स्त्री से मनमानी बातें कह सकता है। क्या तुमने मुझे अपनी कोई बाँदी समझ रखा है कि समय-कुसमय तुम्हारी कविताएँ सुना करूँ, और हँसो तो तुम्हारे साथ हँसा करूँ ?

अविनाश—मैं भी ऐसी स्त्री की कोई कीमत नहीं करता जो अपने काम में अपने को इस तरह उलझा ले कि दीन-दुनिया की खबर भी उसे न रहे। कोई प्रेम से उसके सामने कविता पढ़े और वह मौजा बुनने

से अपनी नज़र भी ऊपर न उठाये ! जो अपने-आपको इस तरह समझे कि उसके सामने पति की कोई हस्ती ही न रहे !

सुलेखा—(उग्रता से) पति···पति···पति··· ! पति क्या कोई भूत है जो हमेशा सिर पर चढ़कर बोले ? पति···पति··· ! सुनते-सुनते थक गई !

अविनाश—क्या आपकी यह मजाल कि आप मुझे इस तरह अपमानित करें ?

सुलेखा—क्यों, आप मेरा क्या कर लेंगे ? मैंने गलती की कि अपनी शादी आपसे हो जाने दी ! आपसे···आपसे····

अविनाश—तो अब उस गलती का प्रायश्चित्त कर डालिए !

सुलेखा—हाँ, मैं प्रायश्चित्त करूँगी । अब इस तरह जिन्दगी नहीं बिता सकती । आत्म-हत्या करूँगी, मर जाऊँगी । ऐसे व्यक्ति के साथ रहना घोर पाप है जो···(कहते-कहते बाहर निकल जाती है ।)

अविनाश—(सिर हिलाकर) आत्म-हत्या करेंगी ! आत्म-हत्या करना आसान बात है ! ऐसे आत्म-हत्या करने वाले बहुत देखे हैं ! मेरा सारा गृहस्थ-जीवन चौपट हो गया ! (टहलते हुए)····बात-बात पर झगड़ा ! बात-बात पर बहस··· ! ऐसे मैं इनके नाज कहाँ तक उठाऊँगा···! देख चुका···! बहुत हो चुका···! इनके सामने मैं कोई चीज ही नहीं रहा···! कहती हैं, क्या कर लेंगे आप···! मैं तो वह कर सकता हूँ कि जिन्दगी-भर याद बनी रहेगी । सुलेखा...यह मेरे जीवन का चित्र खींचेंगी या उस पर स्याही डाल देंगी···! (सुलेखा शीघ्रता से लौट आती है ।)

अविनाश—क्यों ? क्यों लौट आईं ? आत्म-हत्या नहीं की ?

सुलेखा—मैं क्या आत्म-हत्या करने से डरती हूँ ? जरूर करूँगी । ऐसे व्यक्ति के साथ नहीं रह सकती जो कदम-कदम पर पत्नी को लांछित

करता है। मैं अभी ही आत्म-हत्या करती, लेकिन मेरे सिर में इतने जोर का दर्द है कि मैं इस समय आत्म-हत्या करने की बात ही नहीं सोच सकती। सिर का दर्द कम होने दीजिए और देखिए कि मैं आत्म-हत्या करती हूँ या नहीं!

अविनाश—कर चुकीं आत्म-हत्या! मुसीबत तो मेरी है कि मैं इस तरह जिन्दा हूँ। जिन्दा हूँ! जिन्दा रहते हुए भी मृतक के समान हूँ! घर में मेरी कोई इज्जत नहीं, बाहर क्या इज्जत होगी! खाक? पत्नी का रुख देखकर चलो तो हँस सकते हो, नहीं तो झगड़ालू, धोखेबाज और निर्दय···

सुलेखा—हाँ, हाँ, झगड़ालू, धोखेबाज, निर्दय और······और कायर!

अविनाश—कायर? किस बात में कायर?

सुलेखा—कायर? कायर इस बात में कि मैं आत्म-हत्या करने के लिए आगे बढ़ी और आप में शक्ति नहीं थी कि मुझे एक कदम बढ़कर रोक सकते और कहते कि नहीं, नहीं, आत्म-हत्या मत करो। खड़े रहे पत्थर की तरह। दुम दबाकर भाग जाते तो और भी अच्छा होता।

अविनाश—मैं कभी दुम दबाकर भागा भी हूँ! भागे होंगे आपके भाई-बन्द!

सुलेखा—देखो अविनाश, तुम मुझे कुछ कह सकते हो, लेकिन मेरे भाई-बन्दों का नाम भी नहीं ले सकते।

अविनाश—क्यों? क्यों नहीं ले सकता? किसी ने मुझे कुछ दे दिया है?

सुलेखा—तुम इस लायक ही नहीं हो कि कोई तुम्हें कुछ देता।

अविनाश—देखो, सुलेखा! तुम मुझे बहुत अपमानित कर चुकीं, अपमान सहते-सहते मैं अन्तिम सीमा तक पहुँच गया हूँ।

सुलेखा—(झुँझलाकर) अन्तिम सीमा ! बहुत धमकी देते हो ! देख चुकी ऐसी धमकी !

अविनाश—कैसी धमकी ? क्या तुम मुझे इतना कमजोर समझती हो कि मैं कुछ कर ही नहीं सकता ? मैं तो वह कर सकता हूँ कि···

सुलेखा—क्या कर सकते हो ? आज तक कुछ करके दिखाया होता !

अविनाश—क्या देखना चाहती हो ? मेरी मौत ?

सुलेखा—उसे देखकर मुझे क्या मिल जायगा ?

अविनाश—मिले, चाहे न मिले। मेरे न रहने से तुम सुखी तो हो जाओगी !

सुलेखा—हो चुकी सुखी। मेरा भाग्य ऐसा कहाँ ?

अविनाश—तो चाहती हो कि मैं मर जाऊँ ? अच्छी बात है। अभी सही। गंगा किस लिए बह रही है ? यमुना इतनी गहरी क्यों है ? उसमें कूदकर मैं अपनी जिन्दगी खत्म कर सकता हूँ। फिर बैठी रहना सुख से। मैं अभी जाता हूँ। (शीघ्रता से प्रस्थान)

सुलेखा—(दुहराते हुए) गंगा किस लिए बह रही है, यमुना इतनी गहरी क्यों है, जैसे इन्हीं के डूबने के लिए ! सैकड़ों वर्षों से वह इसीलिए बह रही है कि अविनाशजी उसमें कूदकर आत्म-हत्या करें। गृहस्थ-जीवन का मुझे यह सुख है···। बाबूजी तारीफ करते थे—लड़का इतना अच्छा है···! लड़का उतना अच्छा है ! देखने में, पढ़ने में, बातें करने में, शील में। यह है शील ! और ये हैं बातें ! मुझे जलती हुई आग में झोंक दिया···! इसीलिए मैंने जन्म लिया था कि ऐसी-ऐसी बातें सुनूँ और सहूँ···यह है बाबूजी की बुद्धि और यह है बाबूजी की पसन्द का लड़का··· जो बात-बात पर आत्म-हत्या करता है।

(अविनाश लौटकर आता है।)

सुलेखा—क्यों ? लौट क्यों आए ? आत्म-हत्या नहीं की ? गंगा तो अभी तक बह रही है, यमुना तो अभी तक गहरी है !

अविनाश—(अभिमान से) क्या तुम समझती हो कि मैं आत्म-हत्या नहीं कर सकता ? मैं अभी ही गंगा में डूबकर प्राण दे देता ; लेकिन बाहर काले-काले बादल उठे हुए हैं, पानी बरसने वाला है। अँधेरा इतना ज्यादा है कि रास्ता ही नहीं सूझता। सुबह होने दो और देखो, मैं आत्म-हत्या करता हूँ या नहीं !

सुलेखा—बहुत अच्छा, सुबह आप जरूर कर लीजिए। फिर मुझसे भी जो कुछ करते बनेगा, कर लूँगी।

अविनाश—कर लीजिएगा। (अपना हृदय दबाकर) उफ !

सुलेखा—क्यों ? क्या हुआ ?

अविनाश—परसों मेरी छाती में दर्द था। अभी बाहर गया तो ठण्डी हवा लगने से और भी बढ़ गया। (अपना हृदय दबाकर) उफ !

सुलेखा—छाती में दर्द हुआ करे, किसी को पता न चले तो कोई क्या दवा करे ?

अविनाश—जैसे आपको पता चलता तो आप दवा कर ही देतीं !

सुलेखा—क्यों ? दवा करने में क्या हर्ज था ? मुझे परसों मालूम हो जाता तो मैं जरूर दवा लगा देती।

अविनाश—क्या दवा थी जो आप लगा देतीं ?

सुलेखा—जैसे मेरे पास कोई दवा ही नहीं है ! शादी में प्रोफेसर प्रसाद ने दवा का जो सेट प्रेजेण्ट किया था वह किस दिन काम आता ?

अविनाश—जैसे वह आज ही काम आता और उससे फायदा हो ही जाता ?

सुलेखा—फायदा क्यों नहीं होता ? मेरा सिर-दर्द दर्जनों बार उससे अच्छा हुआ है।

अविनाश—लेकिन दर्द तो मेरी छाती में हो रहा है, सिर में नहीं।

सुलेखा—वह छाती के दर्द पर भी आजमाई जा सकती है। यह मैं आपका अन्तिम काम कर रही हूँ। (सुलेखा जैसे ही आगे बढ़ती है, गिरे हुए फूलदान से उसे ठोकर लगती है और वह आह भरकर बैठ जाती है।)

अविनाश—(आगे बढ़कर) क्या हुआ ! ठोकर लगी क्या ? कहाँ लगी ?

सुलेखा—(वेदना के स्वर में) ओह !

अविनाश—(समीप आकर सुलेखा पर झुककर) कहाँ चोट लगी, कैसी चोट लगी ? (समीप पहुँच जाता है।)

सुलेखा—(प्रकम्पित स्वर में) नहीं लगी, नहीं लगी। (सिसकियाँ भरने लगती है।)

अविनाश—(द्रवित होकर) सुलेखा, सुलेखा, मेरे ही कारण तुम्हें चोट लगी। सचमुच ही मैं बड़ा निष्ठुर हूँ। अपनी प्रिय सुलेखा को इतना कष्ट····! (झुककर) देखूँ, कहाँ चोट लगी है !

सुलेखा—(पैर हटाकर) कहीं, चोट नहीं लगी···! ओह, तुम मुझसे बहुत नाराज हो गए !

अविनाश—नहीं, नहीं सुलेखा ! मैं तुम पर बिलकुल नाराज नहीं हुआ। वह तो बातों-ही-बातों में कुछ बातें मेरे मुख से निकल गईं। नहीं तो मैं अपनी सुलेखा को कहीं आधी बात भी कहता हूँ !

सुलेखा—नहीं, नहीं, कसूर मेरा ही है। मैंने ही तुमसे कड़ी बातें कीं। मैंने ही तुमको अपमानित किया।

अविनाश—नहीं सुलेखा, यह सब मेरा ही अपराध था। उठो,

सोफे पर बैठ जाओ। (सहारा देकर अविनाश सुलेखा को सोफे पर बिठलाता है। थोड़ी देर के लिए दोनों ही मौन रहते हैं।)

सुलेखा—(अस्फुट शब्दों में) तुम मुझसे नाराज हो ?

अविनाश—और तुम मुझसे नाराज हो ?

सुलेखा—नहीं, बिलकुल नहीं। और तुमने मुझे क्षमा कर दिया ?

अविनाश—तुम्हारा अपराध ही क्या है, अपराध तो मेरा है।

सुलेखा—नहीं, अपराध मेरा है ! सारा अपराध मेरा है !

अविनाश—यह मैं नहीं मानूँगा। बात मैंने बढ़ाई थी।

सुलेखा—बात तुमने भले ही बढ़ाई हो, लेकिन कड़ी बातें तो मैंने ही तुमसे कही थीं।

अविनाश—खैर, मैं उन बातों का बुरा बिलकुल नहीं मानता।

सुलेखा—और मैंने भी कहाँ बुरा माना !

अविनाश—तो अब तो हम लोगों में कभी विरोध न होगा ?

सुलेखा—कभी नहीं। हम लोग एक-दूसरे के हृदय को अच्छी तरह समझ गए हैं। तीन महीने में भी क्या हम लोग एक-दूसरे को नहीं समझ सके ?

अविनाश—हम लोग एक-दूसरे को अच्छी तरह समझते हैं। और विरोध तो तब हो जब मेरी बात तुम्हें अच्छी न लगे। या तुम्हारी बात मुझे अच्छी न लगे।

सुलेखा—नहीं, हम लोगों में से किसी को किसी की बात बुरी नहीं लगती।

अविनाश—अब तुम्हारे सिर का दर्द कैसा है ?

सुलेखा—अब अच्छा है। और तुम्हारी छाती का दर्द कैसा है ?

अविनाश—वह भी अब ठीक हो गया।

सुलेखा—बस, ठीक है।

अविनाश—अब सिर-दर्द अच्छा हो जाने पर आत्म-हत्या तो न करोगी ?

सुलेखा—(हँसकर) क्यों आत्म-हत्या करूँगी ? क्या तुम्हारे रहते मुझे आत्म-हत्या की जरूरत होगी !

अविनाश—(हँसकर) यानी, मैं तुम्हें इतनी तकलीफ देता हूँ कि वह आत्म-हत्या के बराबर है !

सुलेखा—(हँसकर) नहीं, यह मेरा मतलब नहीं। यह घर इतना अच्छा है कि इसे छोड़कर आत्म-हत्या करने की तबियत किसकी होगी और तुम···तुम छाती का दर्द कम होने पर गंगा में डूबने तो नहीं जाओगे ?

अविनाश—तुम्हारे प्रेम-सागर में डूबकर कौन गंगा में डूबने की चेष्टा करेगा सुलेखा ?

सुलेखा—तुम बहुत अच्छे हो, अविनाश !

अविनाश—और सुलेखा, तुमसे अच्छी स्त्री मैं सौ जन्म में भी नहीं पा सकता।

सुलेखा—मुझे लज्जित मत करो, अविनाश ! ओह, हम लोग एक-दूसरे को कितना अच्छा समझते हैं !

अविनाश—हम लोग कितने सुखी हैं, सुलेखा !

सुलेखा—हम लोगों का वैवाहिक जीवन वास्तव में कितना सुख-कर है !

अविनाश—(गिरे हुए फूलदान और फूलों को लक्ष्य करके) उस चमेली और गुलाब के फूल की तरह !

सुलेखा—हाँ, बिलकुल इन फूलों की तरह। (जमीन से गुलदस्ता उठाकर मेज पर सजाती है।)

सुलेखा—मैं तुमसे एक प्रार्थना करूँ ?

अविनाश—हाँ, हाँ कहो क्या चाहती हो ?

सुलेखा—मेरी प्रार्थना अवश्य मानोगे ?

अविनाश—जरूर मानूँगा ! आज्ञा दो।

सुलेखा—पं० सुमित्रानन्दन पन्त की वह कविता सुनाओगे ? 'तुम्हारी आँखों का आकाश'...

अविनाश—जरूर सुनाऊँगा। और तुम भी मेरी एक प्रार्थना मानोगी ?

सुलेखा—इसमें भी कोई सन्देह है ?

अविनाश—नहीं, वचन दो, मानोगी ?

सुलेखा—मैं वचन देती हूँ।

अविनाश—जब मैं कविता पढ़ूँ तब तुम मेरे लिए मौजा बुनती जाओगी ?

सुलेखा—अवश्य।

(अविनाश मौजा बुनने का सामान टेबुल से उठाकर सुलेखा के हाथ में देता है।)

सुलेखा—हाँ, तो तुम कविता पढ़ो और मैं मौजा बुनती जाऊँगी।

अविनाश—वही कविता ?

सुलेखा—हाँ, वही आँखों के आकाश की कविता।

अविनाश—अच्छा तो सुनो। (सुनाने की मुद्रा में)

सुलेखा—जरा अच्छे स्वर से सुनाना।

अविनाश—(स्वर से) तुम्हारी आँखों का आकाश;
सरल आँखों का नीलाकाश,
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! इनमें खग अनजान !

(अविनाश यह कविता हाव-भाव से सुनाता है और सुलेखा मौजा बुनती है।) (धीरे-धीरे परदा गिरता है।)

सेठ गोविन्ददास

श्री सेठजी कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ प्रवीण साहित्यिक भी हैं। नाटक-लेखन के क्षेत्र में आपने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक नाटक आपने हिन्दी-साहित्य को प्रदान किये हैं।

आपके नाटकों का विषय अधिकांश पारिवारिक एवं राजनीतिक ही रहा है। कुछ नाटक आपने 'स्वगत' (आकाश भाषित) के ढंग पर भी लिखे हैं, किन्तु वे पूर्णतया संस्कृत की प्रणाली के आधार पर लिखे गए नहीं कहे जा सकते।

'एक-पत्री नाटक' अभी हिन्दी में प्रारम्भिक अवस्था में ही है। इसका प्रारम्भ सर्वप्रथम सेठजी ने ही किया था। आपके 'सप्त-रश्मि, 'एकादशी', 'पंचभूत', 'अष्टदल' तथा 'चतुष्पथ' आदि एकांकी-संग्रह अभी तक प्रकाश में आ चुके हैं।

पात्र-परिचय

नादिरशाह ... ...

मुहम्मदशाह की बेगमें ... ...

पतन की पराकाष्ठा

स्थान—दिल्ली के लाल किले का दीवाने खास

समय—तीसरा पहर

[न तो दीवाने खास के वर्णन की जरूरत है और न नादिरशाह के ही स्वरूप तथा पोशाक इत्यादि की; दोनों ही इतिहास-प्रसिद्ध हैं। नादिर-शाह 'तख्ते-ताऊस' पर मसनद के सहारे आधा लेटा हुआ है। उसकी आँखें अलसाई हुई हैं और वह बार-बार जम्हाई ले रहा है। उसकी सारी मुद्रा से जान पड़ता है कि अगर वह आँखें बन्द कर ले तो उसे क्षण-मात्र में गहरी नींद आ सकती है। पर वह हर उबासी पर नजर उठाकर दाहिनी तरफ देखता है जिससे मालूम पड़ता है कि वह किसी के आने की प्रतीक्षा में आती हुई नींद को जबरन रोक रहा है। तख्ते-ताऊस के निकट ही एक चौकी पर उसका ताज और दूसरी चौकी पर उसकी तलवार रखी हुई है। कुछ ही देर में दाहिनी ओर से मुहम्मदशाह की बेगमों का एक झुण्ड में प्रवेश। हर बेगम अपने तमाम शरीर को बुरके से ढाँके हुए है। बुरके में आँखों पर जो जाली है, उससे हरेक की आँखें धुँधली-धुँधली-सी दिखती हैं। वे बहुत धीरे-धीरे आती हैं। उनकी चाल में भय और लज्जा दोनों ही भरी हुई हैं।]

नादिर०—(उसी तरह लेटे हुए, नींद को रोकने की और भी कोशिश करता हुआ) **अस़्-सलाम-आलेकुम बेग़मात !···बड़ी····बड़ी नवाजिश की आप सबने कि मेरी दरख्वास्त पहुँचते ही तशरीफ ले आईं। कहिए, मिज़ाज शरीफ ? (उबासी लेता है)**

[बेगमें कोई जवाब न देकर, सिर झुकाकर चुपचाप खड़ी हो जाती हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

नादिर०—(जम्हाई लेकर अँगड़ाई लेते हुए) तो····आप कुछ फरमायेंगी नहीं ? (रुककर) सलाम का जवाब भी नहीं ? (फिर कुछ रुककर) परदा···हाँ, परदा है, क्यों ? (कुछ उत्तर न सुनकर, फिर कुछ रुककर, एक कहकहा लगा) जब सामने तशरीफ ले आईं तब बोलने में कैसा परदा ? (फिर कोई जवाब न सुनकर) मैं दरख्वास्त करूँगा कि आप सब अपने-अपने बुरके उतार देने की मेहरबानी करें।

(बेगमें फिर भी कोई जवाब न देकर आँखों के सामने लगी हुई जाली में से एक-दूसरे की ओर देखती हैं। कुछ देर निस्तब्धता।)

नादिर०—(उबासी लेकर) तशरीफ ले आने की दरख्वास्त तो मंजूर हो गई लेकिन यह दरख्वास्त मंजूर होती नहीं दिखती, क्यों ? (कोई उत्तर न सुनकर, कुछ ठहर कर, थोड़ा-सा उठते हुए, कड़ककर) मैं हुक्म देता हूँ कि आप फौरन अपना-अपना बुरका उतारकर रख दें।

[नादिरशाह की कड़क से दीवाने खास गूँज उठता है। बेगमों पर इस कड़क का बिजली की कड़क के समान असर होता है। और सब बेगमें जल्दी से अपना-अपना बुरका उतार डालती हैं। बुरके उतारने के ढंग और उनके काँपते अंगों से मालूम होता है कि वे कितनी भयभीत हैं। बुरका उतारकर वे सब सिर झुकाकर चुपचाप खड़ी हो जाती हैं। नादिरशाह उनकी तरफ देखकर, जोर का एक कहकहा लगा कर फिर उसी तरह लेट जाता और जम्हाई लेता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

नादिर०—तो सीधी उँगली से घी नहीं निकलता, यह यहाँ की सच्ची कहावत है ? (कुछ रुककर) लेकिन···लेकिन इतने पर भी शुक्रिया ! (फिर कुछ रुककर अँगड़ाई लेते हुए) पर आप लोग रुक क्यों गईं ? जब आप जलवागर हुई हैं तो किसी भी पर्दे की ओट क्यों ?

अब आगे बढ़िये—बुरका तो शुरुआत था।

[नादिरशाह के इस कथन से बेगमें बेत के सदृश काँपने लगती हैं। सब-की-सब विवश-सी एक-दूसरे की ओर देखती हैं। किसी-किसी की आँखों में आँसू भर आते हैं, पर कोई किसी से कुछ कहती नहीं। कुछ देर निस्तब्धता]

नादिर०—(थोड़ा-सा उठते हुए, कड़ककर) क्या मुझे फिर हुक्म देना होगा? कोई उत्तर न सुन, तथा दरख्वास्त के अनुसार काम होते न देख, कुछ रुककर) अच्छा, हुक्म देने के पहले मैं थोड़ा-सा वक्त देता हूँ। दस लमहों के अन्दर आप लोग फैसला कर लें। लेटकर आँखें बन्द कर लेता है।)

[भयभीत बेगमें एक-दूसरे की तरफ देखती हैं। कोई कुछ नहीं करती। अधिकांश के शरीरों में अब भी कंप है, लेकिन कुछ का काँपना अब बन्द हो गया है। कुछ देर निस्तब्धता। एकाएक नादिरशाह नींद के खुर्राटे लेने लगता है। सब की नजर नादिरशाह की तरफ घूमती है और फिर सब एक-दूसरे की तरफ देखती हैं। बेगमों के आगे के सम्भाषण में नादिरशाह के खुर्राटे बराबर सुन पड़ते हैं।]

एक बेगम—(काँपते हुए स्वर में) फजल है खुदा का कि इन्हें नींद आ गई।

दूसरी—लेकिन कितनी देर यह नींद रहेगी?

तीसरी—हाँ, बकरे की माँ कब तक खैर मनायगी?

चौथी—मैं कहती हूँ—भाग चलो—

पाँचवीं—(कुछ आश्चर्य से) भाग चलें? भागकर कहाँ जायँगी?

छठवीं—हाँ कहाँ जायँगी? एक तो दीवाने खास पर ही पहरा, फिर हम पहरे से भी किसी तरह बच निकलें तो किले के बाहर तो जा ही नहीं सकतीं।

पाँचवीं—फिर तो पकड़-पकड़कर लाई जायँगी, और···और न जाने क्या-क्या होगा।

पहली—इससे भी ज्यादा कुछ होने को बचा है?

दूसरी—उफ? हिन्दुस्तान के बादशाह की बेगमों का यह हाल?

तीसरी—जब बादशाह सलामत का खुद यही हाल है, तो बेगमों की क्या चले?

चौथी—हाँ, जब मर्दों में ही ताकत न रही तो हम औरत जात क्या कर सकती हैं?

पाँचवीं—मैं तो हिन्दू थी। हिन्दू से जबरन मुसलमान बनाई गई। सुन्दर थी, विदुषी थी। सुन्दरता और विद्या का यह फल मिला? हिन्दुओं की एक मशहूर स्मृति में क्या लिखा है, जानती हो बहनो?

कुछ—(एक साथ) क्या?

पाँचवीं—नष्टे मृते प्रव्रजते क्लीबे च पतिते पती।
पंचत्स्थापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

कुछ—(एक साथ) माने?

पाँचवीं—माने यह कि स्त्री पाँच तरह के पतियों को छोड़ दे—जिसका पता न हो, जो मर गया हो, जिसने संन्यास ले लिया हो, जो नपुंसक हो, और जो पतित हो गया हो। पतित के माने मालूम हैं?

कुछ—(एक साथ) क्या?

पाँचवीं—पतित के माने हैं गिरा हुआ। गिरे हुए का मतलब है जो अपने धर्म का पालन न कर सके। धर्म के माने सिर्फ मजहब न होकर फर्ज भी है। जो पति और पत्नी की रक्षा नहीं कर सकता वह पतित है, छोड़ देने के लायक है। मुझे अपनी जाति छोड़नी पड़ी, मजहब छोड़ना पड़ा, अब मैं अपने वर्तमान पति को भी छोड़ती हूँ। मुझे तो जैसा हुक्म (नादिरशाह की ओर इशारा करके) ये वीरवर देंगे, मैं तो

वैसा ही करूँगी।

सातवीं—और···और, बहनो, जब इस्लाम में मर्द को तलाक देने का हक है तब औरत को क्यों नहीं ? क्या यह बेइन्साफी नहीं ?

कुछ—(एक साथ) बड़ी-से-बड़ी बेइन्साफी !

सातवीं—बेइन्साफी को दूर करने का एक ही तरीका है।

कुछ—(एक साथ) क्या ?

सातवीं—जो हक मर्द को है, हम मान लें कि औरत को भी है। हमें चाहिए कि हम ऐसे शौहर को तलाक़ दे दें, जिसमें न किसी तरह की ताकत है, न कोई कूवत। अरे ! जो अपनी बीवियों की भी हिफाज़त नहीं कर सकता, वह मर्द ही कैसा !

आठवीं—हाँ, हाँ, जब हिन्दू बीवी भी ऐसे शौहर को छोड़कर नई शादी कर सकती है, तब हम तो मुसलमान हैं। ऐसी हालत में जब हिन्दुओं की न टूटने वाली शादी भी टूट सकती है, तब मुसलमानों की शादी तो न टूटने वाली शादी नहीं है न ?

सातवीं--बेशक। सवाल इतना ही है कि इस्लाम में मर्द शादी तोड़ सकता है। मर्द ने अपनी ताकत और कूवत के सबब से यह अख्तियार लिया है। जब वह नामर्द है, पस्तहिम्मत और बुजदिल, तब यह हक हमें होना चाहिए। हम अपनी इस शादी को तोड़ देंगी।

[एकाएक खुर्राटे बन्द हो जाते हैं। खुर्राटे न सुनकर बेगमें कुछ चौंक पड़ती हैं, और चुप होकर पहले नादिरशाह की ओर देख, जल्दी से वहाँ से नजर हटा एक-दूसरे की तरफ देखने लगती हैं। फिर से भय का साम्राज्य छा जाता है।]

नादिर०—उठते हुए, उबासी और अँगड़ाई लेकर, बेग़मों की ओर देखकर) अच्छा तो···तो आप सब वैसी ही खड़ी हैं।···दस··· दस लमहे तो गुजर चुके होंगे।···हाँ, हाँ···जरूर। मैं···मैं तो एक नींद

भी ले चुका (कुछ रुककर, कड़ककर) मैं हुक्म देता हूँ कि फौरन साड़ियाँ और सलवारें फर्श पर जमा हो जायँ।

[बेगमें एक-दूसरे की ओर देखती हैं। पहले पाँचवीं, छठवीं और सातवीं अपने-अपने कपड़ों की चुनावट ढीला करना आरम्भ करती हैं। इन्हें देखकर बाकी बेगमों के हाथ भी अपनी-अपनी कमर की तरफ बढ़ते हैं। नादिरशाह ग़ौर से बेगमों की इस कार्यवाही को देखता है।]

नादिर०—(एकाएक खड़े होकर) जरा ठहरो।

[बेगमें चौंककर जो जैसी दशा में हैं वह उसी प्रकार चित्र-लिखित-सी खड़ी रह जाती हैं]

नादिर०—सब···सब-कुछ खत्म हो गया इस मुल्क का। यहाँ के मर्दों को मैं इतने दिनों से देख रहा था। यहाँ के मर्द, मर्द नहीं रहे। वह हैं भेड़-बकरियाँ। औरतों को मैं और देखना चाहता था। कोई भी मुल्क तब तक पूरी तरह बरबाद नहीं हो सकता, जब तक वहाँ की औरतें सच्ची औरतें रहें। क्योंकि आगे की पुश्त को तो औरतें बनाती हैं। मैंने शाही हरम की औरतों को देखना चाहा। यहाँ से अच्छी नस्ल और कहाँ देखने को मिल सकती थी! आप सब एक-से-एक खूबसूरत हैं; क्या कहने ? पढ़ी-लिखी भी काफ़ी मालूम होती हैं। एक ने अभी संसकीरत का एक शेर पढ़कर उसके माने समझाये थे। एक ने इस्लाम को इसलिए कुसूरवार साबित करने की कोशिश की थी कि उसमें मर्द को तलाक देने का इख्तयार है, लेकिन औरत को नहीं। हिन्दू सास्तर, कुरान सब आपने पढ़े हैं। आपकी इल्मियत की भी जितनी तारीफ की जाय, थोड़ी है। मैंने इस मुल्क की औरतों के न जाने कितने अजीबो-गरीब किस्से सुने थे। सुना था—अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए यहाँ की सैकड़ों नहीं हज़ारों औरतें जीती ही आग में जल जाती थीं और उसे 'जौहर' कहा जाता था। 'जौहर!' कितना खूबसूरत लफ्ज है।

एक पद्मिनी का दास्तान भी सुनने में आया था। पद्मिनी उसका नाम ही शायद इसलिए था कि वह बहुत खूबसूरत थी। इल्म भी रखती थी। लेकिन···लेकिन जिस तरह आप सब मेरी दरख्वास्त पर ही एक साथ दौड़ी हुई तशरीफ ले आईं उस तरह वह अलाउद्दीन के पास नहीं गई थी। उसे बुरका ढाँके हुए न था, नहीं तो एक ही घुड़क में वह उसका इस तरह साथ न छोड़ देता। जिस तरह आपके बुरके ने आपका साथ छोड़ दिया। और···और उसको बेपर्द होने के लिए कहकर अलाउद्दीन को नींद भी न आई थी। उस वक्त अलाउद्दीन के खेमे में उसके नींद के खुर्राटे लेते वक्त (चौकी पर से अपनी तलवार उठाकर) इस तरह की कोई शमशीर भी मौजूद न थी। और···और जागते हुए ताक़तवर अलाउद्दीन के सामने थी अकेली पद्मिनी। क्या किया था पद्मिनी ने और क्या हुआ था अलाउद्दीन का; इसे शायद आप लोग जानती होंगी, न जानती हों तो पढ़ लीजिएगा तवारीख में। आप समझती हैं आपका शौहर नामर्द है, पस्तहिम्मत और बुज़दिल। वह··· वह ज़रूर आपकी हिफाजत के काबिल नहीं हिन्दू बेग़म हिन्दू सास्तर के हुक्म के मुताबिक दूसरी शादी करने के लिए अपने को आज़ाद मानती है। मुस्लिम बेग़मात शादी के मुताल्लिक इस्लामी शरियत में रद्दो-बदल करके तलाक का हक औरत के लिए भी चाहती हैं। (कहकहा लगाकर) अपने ऊपर आप सबकी एकबारगी इतनी इनायत देखकर मैं तो दंग रह गया। शुक्र गुज़ार···अज़हद शुक्र गुज़ार हूँ आप सबका। लेकिन···लेकिन मैं अपनी आगे की पुश्त को बरबाद करने हिन्दुस्तान में नहीं आया हूँ, न अपने मुल्क का ऐसा खात्मा करने, जैसा हिन्दुस्तान का हो चुका है। मैं आपको और ज्यादा ज़लील करना नहीं चाहता था। मैं चाहता था यहाँ की औरतों को सिर्फ देखना, ज़रा उनकी जाँच करना।·· देख लिया मैंने, जाँच पूरी हो गई मेरी। और···और अब

आप सब अपने-अपने महल में तशरीफ़ ले जा सकती हैं।

[नादिरशाह तलवार को फिर चौकी पर रखकर तख्त पर बैठ जाता है। बेगमें लपक-लपक कर जल्दी-जल्दी अपने बुरके उठाती हैं। किन्तु जल्दी और घबराहट में कोई किसी का बुरका उठा लेती है, और कोई किसी का। इसी तरह उन्हें जल्दी-जल्दी उल्टा-सीधा पहनकर भागती हैं। इस जल्दबाज़ी और भगदड़ का दृश्य देखते ही बनता है। उनके भागते हुए नादिरशाह फिर एक जोर का कहकहा लगाता है।]

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र

प्रेमीजी की भाँति श्री मिश्रजी ने भी प्रमुख रूप से बड़े नाटकों की ही रचना की है। एकांकी की रचना की ओर वे बाद में प्रवृत्त हुए। हर्ष का विषय है कि जिस सफलता के साथ उन्होंने बड़े नाटकों का निर्माण किया, उसी वेग से वे एकांकी के निर्माण की ओर भी दत्तचित्त हुए।

समाज की विशृङ्खल मनोवृत्तियों पर कटु व्यंग करके समाज की रुचि को परिष्कृत करने के उद्देश्य से ही श्री मिश्रजी के अधिकांश एकांकियों की सृष्टि हुई है। समस्या-नाटकों के क्षेत्र में आपकी प्रमुख देन है।

इधर कुछ दिन हुए उनके एकांकियों का संग्रह 'अशोक वन' प्रकाश में आया है।

पात्र-परिचय

राजनाथ	...	...	पिता
मोहन	...	...	पुत्र
शीला	...	...	पुत्री
निरंजन	...	...	पुत्र का मित्र

एक दिन

[देहात के किसी गाँव में खपरैल का मकान। माटी की दीवारें चिकनी करके चूने से लिपी गई हैं। आगे की ओर काठ के खम्भों पर बना ओसारा। खम्भे काले पड़ गए हैं, उनके रंग से ही उनकी आयु फूट रही है। उनका हीर अब इतना सूख गया है कि जगह-जगह टेढ़ी-मेढ़ी दरारें पड़ गई हैं। जाति का गुण और बल और कहीं माना जाय या नहीं, इन खम्भों की लकड़ी में तो ठोस है। ये शीशम के खम्भे अपनी टेक में पत्थर का कान काट रहे हैं। भीतर जाने का पुराना द्वार दाईं ओर से पड़ता है। इससे हटकर तीन नये किवाड़ इस समय के हैं जो अपनी बनावट, लकड़ी और पल्लों से इस नये युग की बस यही इतनी छाप इस घर पर लगा रहे हैं। इस नये युग का सब काम जब यह पुराना घर न दे सका, तब बैठक के लिए यह एक कमरा बना लिया गया। भीतर की इतनी जगह ले ली गई। इस कमरे में एक ओर पलंग पर बिछावन बिछा है। नीचे कच्ची धरती पर नई दरी पड़ी है। दूसरी ओर देहाती बढ़ई की बनाई भौंडी मेज के तीन ओर बेंत की तीन कुर्सियाँ और दीवारों पर कुछ नये-पुराने सस्ते चित्र हैं। ऊपर बाँस के फट्टों में कील लगाकर रंगीन चाँदनी लगी है। मेज के पीछे एक किवाड़ दालान में होकर भीतर जाने का है।

भीतर की ओर से राजनाथ का प्रवेश। ऊँचा पुष्ट शरीर। ललाट

❀ प्रस्तुत नाटक नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ में छपा है और लेखक की अनुमति के पश्चात् दिया जा रहा है।

पर रेखाएँ। बाल गंगा-जमुनी, भवें तनी और लम्बी; आँखों में लाल डोरे। साँस कुछ बढ़ी चाल में है। एक कुर्सी खींचकर बीच वाले द्वार के सामने धम्म से बैठ जाते हैं। तीन बार हथेली से ललाट पीट लेते हैं, फिर हाथ खट्ट से कुर्सी की बाँह पर गिर पड़ता है।]

राजनाथ—चक्रनेमिक्रमेण···चक्र की इस गति को मैंने रोकना चाहा! यह उसी का दण्ड है। बड़े बने रहने के मोह में मैंने पूर्वजों की मर्यादा मिटा दी। आँधी के वेग में एक-एक पत्ते, हर डाल-टहनी के साथ धरती पर जड़ के साथ आ जाना मैंने नहीं चाहा और अब ठूँठ हूँ। मोहन!···मोहन!···

मोहन—जी आया (उसी द्वार से प्रवेश। प्रायः बीस वर्ष की अवस्था का युवक। रेशमी कमीज और उजली धोती। आँख धरती की ओर, मुँह पर भय की छाया) जी इसमें थोड़ा···

राजनाथ—कभी नहीं। जो हो गया···जन्म भर उसी में जलता रहूँगा। पाँच पीढ़ी की बात जानता हूँ, अस्सी के नीचे कोई मरा नहीं। मेरे अभी पचपन हैं। उन-सा सुखी नहीं रहा, फिर भी अभी पन्द्रह बरस तो चलेंगे ही।

मोहन—कितनी बड़ी समस्या से पिंड छूटेगा? झूठी मर्यादा! अपनी लड़की का सुख आप नहीं देखते।

राजनाथ—गोली मार दो तुम मुझे। उस सुख से बड़ा सुख मिलेगा मुझे इसमें। वंश की मर्यादा तुम्हारे लिए झूठी हो गई, जिसे बचाने में सब-कुछ चला गया? बाप-दादों का घर भी चला गया। जिस घर में पैदा हुआ; खेला-कूदा बड़ा हुआ···जिसमें तुम्हारी माँ आई, तुम भी जिसमें जनमे थे, उसकी नीलाम-डुग्गी से भी प्राण उतना नहीं बिंधा था जितना आज बिंधा है।

मोहन—सब कहीं यह हो रहा है···बड़े-से-बड़े घरों में···बिना

कन्या देखे विवाह अब बड़े घरों में नहीं होता।

राजनाथ—सो तो तुम कर चुके। विष की घूँट तो मैं पी गया, दूसरी न पिऊँगा।

मोहन—मैं नहीं समझता, अब इस युग में इसमें बुराई क्या है। वर अपनी रुचि की कन्या चाहता ही है, फिर भी ऐसा वर, जो……

राजनाथ—जो एम० ए० में पढ़ रहा है। बड़े बाप का बेटा है। जिसका बाप नामी वकील है, जो कभी भी हाईकोर्ट का जज हो सकता है; जिसकी कोठियाँ हैं, मोटरें हैं, हटो-बचो जिसके यहाँ लगा है। क्यों··?

मोहन—हाँ, तो इसमें झूठ क्या है? क्या उस परिवार में शीला सुखी न होगी? कन्या के प्रति आपका जो कर्तव्य है उसे देखिये। लड़कियों का कभी यहाँ स्वयंवर होता था। यह भी इसी देश की मर्यादा है।

राजनाथ—इस देश की क्या मर्यादा है, तुमसे न सीखूँगा। उसे सीखने को किसी विलायती प्रोफ़ेसर के पास भी न जाऊँगा। वह तो जिस तरह मेरे पूर्वजों के रक्त के रूप में मेरे इस शरीर में है; उसी तरह संस्कार के रूप में मेरे मन में है।

मोहन—अच्छी बात। तो फिर आप जानें……

राजनाथ—इस तरह धमकाकर नहीं बेटा! झूठा भय और झूठा इतिहास···इस तुम्हारे नये युग में बस यही दो बातें हैं।

मोहन—क्या कहते हैं?

राजनाथ—लड़कियों का स्वयंवर यहाँ होता था, पर चुनता कौन था कन्या या वर? एक कन्या के लिए सैकड़ों युवक आते थे। रूप, गुण और पौरुष में जो बड़ा होता, उसे कन्या चुनती। जय-माला जिसके गले में पड़ती, वह अपने भाग्य से फूल उठता। उस युग में

कन्या की यह मर्यादा थी, आज क्या है ? स्त्री जाति जितने नीचे पिछले दस वर्षों में गई है, उतनी पहले कभी नहीं गई थी।

मोहन—तो यही झूठा इतिहास है।

राजनाथ—यही, और तुम अब कहते हो—मैं जानूँ और मेरा काम जाने। यह भय तुम दिखाते हो। जैसे मेरी लड़की के भाग्य में कुछ है ही नहीं। तुम उसके लिए भाग्य गढ़कर लाये हो। तुम्हारे साँचे का भाग्य या तो मैं मान लूँ और नहीं तो फिर मेरी लड़की दुःख उठायगी।

मोहन—भाग्य मैं नहीं मानता। परिस्थिति सब-कुछ करती है। निरंजन इस भयानक गर्मी में नैनीताल होता। इस गाँव की धूल में स्टेशन से तीन मील पैदल न चला होता।

राजनाथ—(हँसकर) तुम्हें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। वह तुम्हारे लिए तीन मील पैदल आ गया। नैनीताल का निवासी इस ठेठ देहात में! इन्हीं देहातों से वह धन जाता है जिसे निरंजन का बाप नैनीताल में खर्च करता है। राम, लक्ष्मण और जानकी को कितना पैदल चलना पड़ा था मोहन ! नंगे पैर गौतम कहाँ-कहाँ घूम आए थे।

मोहन—आप तो बस वही आदर्श के सपने देखते हैं।

राजनाथ—बिना इन सपनों के मनुष्य दरिद्र हो उठेगा। इन्हीं से हम धनी हैं मोहन ! इतिहास पढ़ते हो तुम एम० ए० में और वह निरंजन भी। निकाल दो इतिहास से इन सपनों को, देखो वहाँ फिर क्या बचता है ? फिर भी इतिहास का एक ही पाठ है।

मोहन—इस समय प्रसंग क्या है और आप···

राजनाथ—इस समय का प्रसंग भी इतिहास से जुड़ा है···मेरे, मेरे पूर्वजों के···निरंजन और उसके पूर्वजों के इतिहास से यह प्रसंग भी जुड़ा है। जो बहुत बड़े बन जाते हैं, प्रकृति उन्हें टिकने नहीं देती।

मेरी जो दशा आज सात पीढ़ी के बाद है, निरंजन की दूसरी ही पीढ़ी में होगी। यही इस जगत् का चक्र है। ऊपर का बिन्दु नीचे और नीचे का बिन्दु ऊपर।

[दोनों हाथों को घुमाकर तर्जनी से परिधि बनाते हैं।]

मोहन—तो इस समय मैं जाऊँ। आपका चित्त···

राजनाथ—ठिकाने नहीं है। पुत्र कह रहा है, पिता का चित्त ठिकाने नहीं है! तुम्हारे विचार मुझसे नहीं मिलते, इसलिए मैं पागल हूँ। तुम्हारे शब्दों में तुम्हारे इस युग में इस देश की नई पीढ़ी बोल रही है, जिसका विश्वास अब अपनी जड़ों में नहीं है। (उसकी ओर एकटक देखकर) नहीं समझ रहे हो ?

मोहन—क्षमा करें, यदि मुझसे—इधर सालों से आपको चिन्तित और व्यग्र देखता रहा।

राजनाथ—उसके लिए इतना सीधा, इतना सस्ता उपाय खोज लिया। आज के पत्रों, पुस्तकों में ऐसे ओछे काम बहुत मिलते हैं। बाप को 'पा' और मा को 'ममी' लिखने वाले तुम्हारे लेखक उत्तेजना और आवेश बहुत दे रहे हैं, बस विवेक की ओर नहीं देखते। नहीं तो फिर नंगे साहित्य का व्यापार वे न चला पायँगे। वह जो एकांकी-संग्रह तुमने कल यहाँ (मेज की ओर संकेत करके) रख दिया था···क्या नाम है उसका ?······ऊँह !······उसमें एक नाटक में साइकिल लेकर पपा आफिस चले जाते हैं दस बजे सवेरे और दो बजे दिन में ममी लंच की चिन्ता में सुनाई पड़ती है और फिर सारा दिन और आधी रात तक न कहीं पापा है, न कहीं ममी हैं उस घर में, बस एक ही व्यापार चल रहा है—कुमारियों और उनके प्रेमियों की प्रेम-लीला। यूरोप और अमरीका में भी इतना मद नहीं जिसमें यह देश डूब रहा है।

मोहन—तो आपका कहना है कि मैं निरंजन को यहाँ ले आया किसी ठोस कार्य के लिए नहीं। यदि यह हो जाय तो इसका सुख आपको न होगा ? शीला रानी बनकर न रहेगी ?

राजनाथ—यही मुझे डर है। रानी बनाने के मोह में कहीं तुम उसे बोर न दो। जहाँ आरम्भ ही अशुद्ध है वहाँ अन्त में क्या शुद्ध होगा ? और इन दो दिनों में निरंजन ने उसे कई बार देखा। तुम्हारे साथ उसने उसे भी भोजन कराया, जल-पान कराया। बिना संकोच के जैसे वह तुम्हारे सामने रही है वैसे उसके सामने भी रही।

मोहन—यही तो नहीं रहा। कल दिन में जब वह सोकर उठा, कई बार वह उनका नाम लेकर बुलाता रहा। एक गिलास पानी के लिए वह उसके पास नहीं गई। क्या कहेंगे आप, यह उसका अपमान नहीं हुआ ? वह तो रात ही जाने को तैयार था। मैंने बड़े आग्रह से उसे रोका और कहा कि बच्ची है, जाने दो।

राजनाथ—और अब वह उससे अकेले में बातें करके निर्णय करेगा। उसकी परीक्षा लेगा कि वह उसके योग्य है या नहीं और तब उसे स्वीकार करके तुम्हें कृतार्थ करेगा या कह देगा नहीं जी, मुझे पसन्द नहीं। नौकर से पानी न माँगकर उसने तुम्हारी बहन से माँगा !

मोहन – ऐसी इच्छा उसकी स्वाभाविक थी। समय बदल गया। मैंने कहा भी कि उसे किसी लड़कियों के स्कूल ही में धरा दें। आप रामायण महाभारत पढ़ाते रहे उसका परलोक बनाने के लिए। यह लोक बने या न बने। उसके सामने जाने में उसे लाज लगती है…एक गिलास पानी या दो बीड़े पान लेकर। जैसे उसका जन्म इस बीसवीं सदी में नहीं, सोलहवीं या पन्द्रहवीं में हुआ हो।

राजनाथ—हुँ, तो इस युग की लड़की में आत्मसम्मान नहीं है। वह उस पुरुष के चारों ओर भाँवर देती है जो उसे देखकर, बातें कर

बड़ी कृपा से अपनी स्त्री बनाना चाहता है। नीच! एक शब्द भी मेरी लड़की के विरुद्ध कहा तो जीभ खींच लूँगा। उसके शरीर में मेरा, मेरी सात पीढ़ी का रक्त है जो सम्मान के लिए मर मिटी। तुम्हारे ऐसे पुत्र से वह पुत्री भली जिसने कम-से-कम अपना, अपने माँ-बाप का सम्मान तो रखा। रामायण और महाभारत पढ़कर जो वह असभ्य या अपढ़ है उसका पता तब चलेगा जब किसी दिन तुमसे वह बातें करेगी। और ठीक है करेगी वह एकान्त में बातें तुम्हारे इस देवता से—मन और बुद्धि के नहीं, धन के देवता से।

मोहन—नहीं, जाने दीजिये। मैं उसे अभी स्टेशन पहुँचा आता हूँ।

राजनाथ—अभी नहीं। बैठ जाओ वह कुर्सी लेकर। तुमने पत्र में लिखा था, तुम्हारे एक मित्र निरंजनकुमार देहात देखना चाहते हैं। मैंने लिख दिया, लिवा लाओ। जिस घर के अतिथि किसी समय नवाब आसफुद्दौला रह चुके थे, कुँवरसिंह और अमरसिंह सत्तावन वाले विद्रोह में जहाँ तीन दिन अपने सिपाहियों के साथ पड़े रहे, इस बिगड़े समय में भी तुम्हारे एक मित्र का सम्मान वह कर सकता है। मुझे क्या पता था कि तुम स्वार्थ की इस निचली तह में उतर जाओगे। विवाह के पहले तुम्हारी बहन को कोई उस आँख से देखे और तुम फोड़ न दो।

मोहन—पर उसने किस ऐसी आँख से देखा कि…

राजनाथ—जो काम वह किसी भी नौकर से ले सकता था वह उसने तुम्हारी बहन से लेना चाहा…केवल इसलिए कि अकेले में वह भर आँख उसे देखे, दो बातें पूछे…इसके बाद वह उससे कहता पैर दबाने के लिए…

(क्रोध से काँपते हैं।)

मोहन—राम-राम! कितना अनर्थ कर रहे हैं आप? शीला के

भाग्य में जो होगा, होगा। अब तो इसी क्षण निरंजन यहाँ से चला जाय।

राजनाथ—इस घर ने बड़े चढ़ाव-उतार देखे मोहन, पर यह कभी नहीं देखा। यह धरती फट जाती और, मैं इसमें समा जाता। यही था तो पहले तुमने मुझसे राय ले ली होती।

मोहन—मैं जानता था लड़की दिखाने को आप तैयार न होते।

राजनाथ—इस तरह नहीं। श्री चौधरी से जब और सब बातें तय हो जातीं, मैं उन्हें लड़की दिखा देता, पर निरंजन को कभी नहीं। विवाह के पहले जो लड़का लड़की को स्वयं देखना चाहता है वह असभ्य है, पसन्द करने का अधिकार वह अपना मानता है कन्या का नहीं। तुम जितना समझते हो मैं उतना जड़ नहीं हूँ। प्रगति रोकने मैं नहीं जाता, बस इतना जान लो प्रगति अन्धों की नहीं आँख वालों की होती है।

मोहन—सामन्ती विचार-धारा अभी आपको नहीं छूटी है। हर बात में आप मर्यादा और आदर्श डाल देते हैं, यहाँ तक कि अपनी लड़की का सुख भी आप नहीं देखते।

राजनाथ—तोते की रट—सुख, सुख, सुख···जैसे तुम्हारे इस काम से उसका सुख तय हो जायगा। उसकी होनी क्या है भगवान् उसे सुख न देना चाहें तो फिर सोने का अम्बार भी धूल हो जायगा। मैं सामन्ती विचार-धारा में पड़ा हूँ और तुम धन के मोह में, धन के सामने तुम्हारे लिए बहन का मान भी मिट रहा है। पूँजी वाले बनिये से सामन्त कभी बुरा नहीं होता। मर्यादा और आदर्श की बातें चाहे झूठी भी क्यों न हों, व्यक्ति को नीचे नहीं उतरने देतीं। गीध की तरह डैने खोलकर वह ऊँचे आकाश में मर जाता है। (काँपकर) कुछ नहीं, तुम यह कहो, तुमने कहा क्या इस निरंजन से? कैसे तुम्हारी बातें यह

मान गया ? तुमने कहा होगा...अपनी बहन के लिए अपने-आप ही उसे निमन्त्रित किया होगा।

मोहन—जी नहीं...हम दोनों में परस्पर परिचय और स्नेह बढ़ा। होस्टल से अपनी कार पर वह मुझे बराबर अपनी कोठी पर ले जाता था। जहाँ इतनी सरलता होती है, घर-परिवार की बात चलती ही है। उसे यह तो पता हो गया था कि मेरे पूर्वज कुल सौ वर्ष पहले राजा थे। आज हमारे दिन बुरे हैं।

राजनाथ—यह तुमने कहा, जिसने इससे अच्छे दिन कभी देखे नहीं। पर मैं जो सब देख चुका हूँ, कभी नहीं कहता कि मेरे दिन बुरे हैं। जिस युग की हम उपज थे जब वह चला गया तो उसकी उपज कब तक टिकती ? राज्य मिट जाते हैं। बड़े-से-बड़े वीर और ज्ञानी किसी दिन मरते हैं; पर उनकी लौ जलती रहती है। व्यक्ति और मनुष्यता का मान वह लौ है। तुमने अपने बुरे दिन की बात कही और वह दया से पिघल उठा। जहाँ किसी भी रूप में दया की माँग है वहाँ व्यक्ति मर जाता है, जीता नहीं। शीला का पता उसे कब चला ?

मोहन—उसके घर में उसकी भी बहन है। उसकी आयु भी शीला जितनी है। इसी वर्ष उसने इण्टर किया है। वह बराबर मुझसे खुलकर बातें करती है। उसकी माँ, चौधरी साहब, उनके व्यवहार में बनावट मुझे कहीं नहीं दीख पड़ी।

राजनाथ—इसलिए कि अभी वे बाढ़ पर हैं। अपनी बाढ़ में वे तुम्हें भी बहा रहे हैं। किसी दिन यह बाढ़ निकल जायगी और पीछे छोड़ जायगी कीचड़ और दलदल। जो तुम्हारे घर हुआ, उनके घर भी होगा। इसलिए जिसे देखो, धन से अलग करके देखो। पद, प्रतिष्ठा और अधिकार से अलग करके देखो। उस मनुष्य को देखो जो तुम्हारे इस युग में जन्म ले रहा है, जो धन और अधिकार से नहीं अपने गुणों

से आगे बढ़ेगा। अपने घर की सामन्त-भावना के विरोधी निरंजन के धन की चमक में आँखें न मूँद लो। निरंजन अपने दादा का नाम भी नहीं जानता।

मोहन—क्या ?

राजनाथ—चौंकने की बात नहीं। अपने पिता को छोड़कर, अपने कुल की कोई बात वह नहीं जानता। इतिहास की बातें और जो-कुछ वह जानता हो, अपने घर का इतिहास नहीं जानता।

मोहन—कभी अवसर न मिला होगा। कहे भी कौन उससे? वकील साहब पाँच बजे सवेरे बैठते हैं, दस बजे तक दम नहीं लेते। स्नान और भोजन में बस बीस मिनट...हाईकोर्ट और लौटकर फिर आधी रात तक। नामी वकील होना भी कम संकट नहीं है।

राजनाथ—अधिकार के लिए तुम्हारे पूर्वज लड़ते-मरते रहे। उन्हें अधिकार और प्रभुता के लिए जीना था। वकीलों-सेठ को धन के लिए जीना है। समाज का निर्माण तब अधिकार पर टिका था, आज घर पर टिका है। वकील साहब भी केवल अपने पिता का नाम जानते होंगे। उस घर का इतिहास जितना मैं जानता हूँ उससे अधिक वे भी नहीं जानते।

मोहन—तो आपका परिचय उनसे है? आप तो मुस्करा रहे हैं?

राजनाथ—(हँसकर) हाँ...और अब तुम सुन लो। रात निरंजन से बातें करके मैं यह जान गया कि देवनन्दन चौधरी के शरीर में मेरा नमक है।

मोहन—क्या कह रहे हैं आप यह सब....?

राजनाथ—मुझे याद पड़ रहा है। सात-आठ का रहा हूँगा उस समय। रघुनन्दन चौधरी की छरहरी लम्बी देह, गझिन मूँछ, लम्बे काकुल, सिर पर केसरिया रंग की कत्ती, आँखों में सुरमा और ओठों पर

पान की लाली। अंग्रेज कलक्टर दौरे में आया था। दो दिन गढ़ी में रहा। रघुनन्दन उन दिनों बाबूजी के मुन्शी थे। रियासत का बही-खाता हाकिमों की आवभगत, सब-कुछ उनके हाथ में थी। आठ बजे सवेरे बाबूजी के सामने हाथ जोड़कर सिर झुकाते थे और फिर रात को भी आठ ही बजे, दिन-भर के काम की बात उन्हें बताकर गढ़ी में ही पीछे की ओर अपनी जगह पर चले जाते थे।

मोहन—वकील साहब के कोई सम्बन्धी थे रघुनन्दन चौधरी?

राजनाथ—उनके बाप थे।····बड़े हँसोड़ और मौके की बात कहने वाले। अंग्रेज कलक्टर उनसे इतना प्रसन्न हुआ कि बाबूजी से कह बैठा, वह चौधरी को अपना पेशकार बनायगा। चौधरी हमें छोड़ना नहीं चाहते थे। जाने के समय इतना रोये कि बाबूजी ने अपने अँगोछे से उनके आँसू पोंछकर कहा था—'जब चाहना यहाँ आ जाना, यह घर तुम्हारा है।' चौधरी चले गए लेकिन उनकी स्त्री और लड़का, जो मुझसे कुछ छोटा था, गढ़ी ही में रहे। कितने दिन रहे, ठीक-ठीक नहीं कह सकूँगा। देवनन्दन मेरे साथ खेलते थे। गढ़ी के बाहर जंगल में एक दिन हम दोनों दौड़ रहे थे, देवनन्दन मेरे धक्के से गिर पड़े, और, और यहाँ भौंह के ऊपर एक अंगुल लम्बी हड्डी धँस गई। है यहाँ उनके कोई चोट का निशान?

मोहन—(विस्मय से) जी हाँ, है। मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है। कह दीजिए, आपने मुझे क्षमा किया। नहीं तो इस दुःख से मैं बीमार पड़ जाऊँगा।

राजनाथ—लड़की की तरह नहीं···लड़के की तरह। तुम लोग थोड़ी आँच भी नहीं सह सकते। किस बात का दुःख है तुम्हें? देवनन्दन चौधरी के अनुकूल इस समय भाग्य है। बड़े पेड़ गिरते हैं, उकठ जाते हैं, उनकी जगह नये बढ़ते हैं। यही क्रम है। तुमने भगवान् के लिए

कुछ भी नहीं छोड़ना चाहा, यही भूल हुई।

मोहन—तब क्या हुआ ?

राजनाथ—रघुनन्दन चौधरी ने लड़के और स्त्री को बुला लिया। अपने-आप पेशकार से बढ़कर डिप्टी हुए। लड़का पढ़ता गया और आज नामी वकील है। कल हाईकोर्ट का जज हो सकेगा। सब-कुछ मिट सकता है, पर संस्कार की जड़ें जल्दी नहीं उखड़तीं। शीला और निरंजन के संस्कार में अन्तर है। निरंजन के धन से वह सुखी हो सकेगी, इसमें मुझे तो सन्देह है। तुम भाई हो, मैं बाप हूँ। उससे इस विषय की कोई बात सीधे पूछो तो नहीं बता सकेगी। फिर भी अभी मैंने जो उसे देखा, वह किसी चिन्ता, किसी दुःख में थी।

मोहन—इसका कारण मैं हूँ। मैं कल भी उसे दो बात कह गया और आज तो यहाँ तक कहा कि यदि तुम उनसे ढंग से बातें न करोगी तो मैं तुम्हारा मुँह न देखूँगा।

राजनाथ—सगी बहन के साथ तुम जैसा चाहे व्यवहार करो। इतना जान लो, उपन्यासों और कहानियों से संसार नहीं चलता। तुमने जो यह जाल बिछाया इसे अब तुम न समेट सकोगे। यह काम अब मुझे करना पड़ेगा। जो मैं नहीं चाहता वही करना होगा। मेरी बेटी इस घर में दुखी न रहे, यह तो मैं कर सकता हूँ। मेरा विश्वास, मेरा स्नेह उसका बना रहे। पिता के धर्म में मैं खोटा न बनूँ। जाओ, उसे भेज दो। उसे समझाकर, समझूँगा तो फिर निरंजन से भी मैं ही····

मोहन—अभी कुछ नहीं बिगड़ा है बाबू जी···निरंजन चला जाय मेरी बहन किसी दूसरे घर जायगी जिसका इतिहास, संस्कार इस घर से मेल खाय।

राजनाथ—सामन्त-भावना में अब तुम आ रहे हो, जो मर गया उसे जिलाने की चेष्टा अब पाप है। कुल और वंश के अभिमान को

भूल जाओ और भूल जाओ कि निरंजन के पूर्वज कभी तुम्हारे आश्रित थे। भाग्य कभी तुम्हारे साथ था, आज उनके साथ है। जाओ, भेज दो शीला को। उसका संयोग जिसके साथ होगा, लाख चेष्टा करने पर भी न रुकेगा। मैं भाग्यवादी हूँ। इस अवस्था में इतने चढ़ाव-उतार के बाद कोई भी भाग्यवादी हो जाता है।

[मोहन का प्रस्थान। राजनाथ कुर्सी से उठकर पलंग पर पड़ रहते हैं और तकिये में मुँह छिपा लेते हैं। शीला का प्रवेश। भरी आँखें, पलकें गिरती नहीं। सुन्दरता के अमृत में विषाद का विष मिल गया है, उसके चलने की आहट नहीं होती। आँचल से आँखें पोंछती है।]

शीला—(भरे कंठ से) आ गई मैं—बाबू जी ! आप काँप रहे हैं। मैं मर गई होती; आप रोते तो नहीं ?

[तकिया हाथ से खींचकर उनकी छाती पर सिर रखकर सिसकने लगती है।]

राजनाथ—(झटके से उसे सँभालकर बैठते हुए) बेटी के लिए बाप कब नहीं रोया ? नहीं, देखो, सुनो भी। जानकी के लिए विदेह जनक रोये थे। मैं रोया तो कोई बात नहीं। न मानोगी, तुमसे कुछ पूछना है।

शीला—आप क्या नहीं जानते मेरा ? आपसे मेरा कुछ छिपा है ? भैया नहीं जानते, मेरा मुँह नहीं देखेंगे।

राजनाथ—उसका मुँह मैं नहीं देखता, पिता का प्राण जो इस देह में न होता। फिर भी वह तुम्हें सुखी देखने के लिए···

शीला—सुखी देखने के लिए मुझे इतना बड़ा दुःख ? आपके जीते जी ? वे अपने घर के बड़े होंगे, इस घर की बड़ी मैं हूँ। आपके पास धन नहीं है पर क्या भाव भी नहीं है मेरे लिए ? किसी पेड़ के नीचे···झोंपड़ी में मैं सुखी रहूँगी। जानकी के चौदह वर्ष वन में बीत

गए। मैं क्या हूँ ? जिसका संग हो उसका विश्वास और आदर मिल जाय, इससे बड़ा धन सोने-चाँदी में लिपटना नहीं है।

राजनाथ—वह युग नहीं अब रहा बेटी ! इस देश में अब जानकी की नहीं···क्या कहूँ ? किसकी बात चलेगी ?····होगी वह कोई विदेश की नारी, पुरुष को धक्का देकर बढ़ने वाली। बैंक में उसकी लम्बी रक़म होगी।

शीला—उससे उसे पूरा सुख मिलता होगा। सचमुच पति की आँख-में-आँख गड़ाकर वह देखती होगी ?

राजनाथ—इस युग में हम अपना सब-कुछ विदेशी आँखों से देख रहे हैं। स्वतन्त्रता का उत्सव हम मना रहे हैं अपने को भूलकर, अपने गुण और अपनी मान्यताओं को भूलकर। आगे चलने में जो पीछे घूमकर देखते नहीं थे, वही अब दूसरों के पीछे सरपट दौड़ रहे हैं। स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र नारी को अब सब-कुछ फाड़ फेंकना है। जानकी उसके लिए बड़ी भोली और धर्मभीरु है···उनमें बुद्धि की कमी है, साहस की कमी है, व्यक्तित्व की कमी है।

शीला—जी, वे भाषण न दे सकीं। (मुस्कराती है) दशरथ को ललकार न सकीं। रामचन्द्र से न कह सकीं कि तुम अपने पिता के धर्म के लिए वन जा रहे हो, मेरे रूप और यौवन की ओर नहीं देखते—आज की नारी यही कहेगी। पर आपने मुझे इस युग की चकाचौंध में जाने भी नहीं दिया। मुझे तो जानकी के त्याग में ही उनका सबसे बड़ा अधिकार दीख पड़ा है। यह अधिकार अ ब तक नहीं मिटा, कभी नहीं मिटेगा। अकेली एक जानकी में इस देश की नारी-जाति लय हो चुकी है।

राजनाथ—तब तुम निरंजन से बातें कर सकती हो। वह चाहता है कि···

(ऊपर देखने लगते हैं।)

शीला—कोई बात नहीं। जानकी रावण से बातें कर सकी थीं, फिर भी रावण का संयम इन निरंजन में होगा या नहीं। रावण इतना लोलुप नहीं था। वह अशोक वन में जानकी के निकट जब गया, अपने बचाव के लिए अपनी रानी को साथ लेता गया; और उन्हें अकेले में बातें करनी हैं!

राजनाथ—देश के सभी पढ़े-लिखे लड़के इस समय निरंजन हैं, उनमें रावण का भी संयम नहीं है।

शीला—तो फिर इनके इस रोग की दवा यहाँ की लड़कियाँ करेंगी। हम सबको सीता बनना पड़ेगा।····तो कहाँ उनसे मुझे बातें करनी होंगी?

राजनाथ—लेकिन क्रोध नहीं बेटी! तुम लाल हो गईं।

शीला—आपके सामने। उनके सामने मैं न लाल हूँगी न पीली। संयम और विचार न छूटेगा मुझसे!···

राजनाथ—सोच लो जो तुम धीर बनी रहो।

शीला—सोच लिया। आपको कोई भी अवसर मेरी चिन्ता, सन्देह का न मिलेगा। अपना सम्मान चाहती हूँ। मैं फिर उनके सम्मान को ठेस न लगने दूँगी।

[मोहन का प्रवेश। उद्विग्न मुद्रा में कभी शीला को और कभी राजनाथ को देखता है।]

राजनाथ—क्या है? ऐसे घबराये क्यों हो?

मोहन—जा रहा हूँ····उसे स्टेशन पहुँचा दूँ। मैंने उसे यहाँ बुलाकर उसका अपमान किया। शीला उससे घृणा करती है। क्या···क्या··· कह रहा है। कहें तो उसके पूर्वजों का इतिहास उसे सुना दूँ।

शीला—घृणा भी एक तरह का सम्बन्ध है। मुझे इन देवता पर

दया आ रही है, ये मुझे समझते क्या हैं? बाबू जी! यह बेचारा मन और आत्मा का रोगी है। भविष्य के लिए कुछ नहीं छोड़ता। सब-कुछ वर्तमान में दबा रहा है! सौ वर्ष जीने से अच्छा है इसके लिए एक दिन या बस एक क्षण जीना। कुम्भकर्ण छः महीने में एक दिन खाता था और यह जीवन-भर के लिए एक ही दिन खा लेना चाहता है।

राजनाथ—(गम्भीर मुद्रा में) हँसी सूझती है तुझे···

शीला—झूठ-मूठ में रो पड़ी। आप भी रोये। मनुष्य की विपत्ति पर ही हँसी आती है और इससे बड़ी विपत्ति और कहाँ हम लोग देखेंगे?

(हँसने लगती है।)

राजनाथ—हूँ···हूँ···पागल हो रही है। ऐसे ही उससे बातें करेगी?

मोहन—अब यह उसके सामने क्या जायगी···

(क्रोध और ग्लानि की मुद्रा)

शीला—तो फिर वे देवता यहाँ से ऐसे ही रोगी चले जायँगे! निर्बल चरित्र को हँसी नहीं आती—आपने एक बार कहा था बाबू जी?

राजनाथ—तीस करोड़ के इस देश में आज तीस भी हँसने वाले नहीं हैं। इसका कारण केवल आर्थिक नहीं, नैतिक भी है। आर्थिक होता तो कम-से-कम मिल-मशीन वाले, पूँजी और चोर बाजार वाले तो हँसते? उनकी तिजोरियाँ भरी हैं पर मन खाली है। चरित्र-बल अब हमारी धरती में नहीं है। जो पीढ़ी आ रही है उसका नमूना निरंजन है, मोहन है। देखो इन्हें, खड़े-खड़े काँप रहे हैं; जैसे अभी रो पड़ेंगे या गिर पड़ेंगे। यह नई शिक्षा क्या हुई चरित्र की बागडोर छोड़ दी गई। मन के विकार और भावना की आँधी में सेमर की रुई-सी हमारी यह पीढ़ी उड़ी जा रही है।

मोहन—मैं जल रहा हूँ और आप मुझ पर व्यंग कर रहे हैं?

राजनाथ—जो जलता है व्यंग उसी पर किया जाता है बेटा। तुम क्यों जल रहे हो? जीवन को फूलों की सेज तुमने क्यों मान लिया? फूल में भी काँटे होते हैं। विपरीत परिस्थिति में जो न डिगे वही पुरुष हैं और तुम जानते हो, सब-कुछ अनुकूल ही नहीं होता। निरंजन कभी तुम्हारा आदर्श था और अब तुम्हारी आँखों में वह इतना नीचे है। दोनों ही झूठ है। दोनों को मिलाकर बराबर करो तब तुम्हें निरंजन मिलेगा। शीला! बुलाऊँ उसे यहाँ। उसे आघात तो न पहुँचाओगी?

शीला—मुझ पर कुछ भी सन्देह हो तो नहीं। मैं उन्हें घृणा नहीं करती। घृणा के लिए कुछ परिचय होना चाहिए। आप जानते हैं मेरा उनसे कुछ परिचय नहीं है।

राजनाथ—(उठकर) तब मैं उसे बुला लाऊँ। तुम यहाँ न रहना मोहन, जब वह आ जाय।

मोहन—अब इसका फल कुछ नहीं है, यह होना था पहले। अब वह जाने को तैयार है। कपड़े पहन चुका है।

राजनाथ—नदी की बाढ़ उतर जाती है। मन का वेग न उतरता तब तो मनुष्य अपने ही ताप से जल मरता, और फिर तुम्हें वह जान गया। इस घर में मुझे और शीला को भी जान ले, यही ठीक होगा।

(प्रस्थान)

मोहन—तुम उससे अकेले में बोल सकोगी?

शीला—मैं उनसे डरती नहीं। वे बोल सकेंगे मुझसे? मुझे सन्देह तो इसी का है। बाप के धन का बल, शिक्षा का बल, चरित्र और व्यक्ति का बल नहीं बनेगा? देख लेना उन्माद जो उनमें आ गया है, पल-भर में उड़ जायगा। बाबूजी से नहीं कहा, मुझसे तो कहे होते कि तुम्हारे मित्र यहाँ मेरे लिए आये हैं।

मोहन—मैं क्या जानता था कि तुम ऐसी जिद्दी हो।

शीला—इसका उत्तर मैं उन्हें दूँगी। मेरा मुँह तुम अब तो देखोगे।

मोहन—मुझे लजाओ न शीला! तुममें मुझसे बुद्धि अधिक है।

शीला—बुद्धि स्त्री है और बल पुरुष। बुद्धि और बल के मेल से व्यक्ति बनता है। लुक-छिपकर बुद्धि चलती है, बल को यह कला नहीं आती।

मोहन—क्या? कैसे देख रही हो? शीला, तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। तब वह यहाँ नहीं आयगा।

शीला—रुको। मुझे उसके लिए तैयार होने दो।

मोहन—किसके लिए?

शीला—तुम्हारे मित्र से बात करने के लिए। एक-एक साँस का बल मुझे बटोरना होगा। उनके सामने मेरी आँखें नीची न पड़ें, यही चाहते हैं वे। अपना और मेरा अन्तर वे देख लें।

मोहन—तुम्हारे मुँह का रंग हर पल जो बदल रहा है। तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो शीला।

शीला—मन की गति जो हर पल बदल रही है। मन के बीज मुँह पर आते हैं। तुम्हारी बहन की आज परीक्षा है। परीक्षक है एक पुरुष जो तुम्हारा मित्र बनता है। कैसा मित्र है वह? क्या स्नेह है उसका तुम्हारे लिए? जब तुम्हारी बहन के लिए वह इतना निर्दय है?

मोहन—मैं उसे यहाँ नहीं आने दूँगा।

(उठता है)

शीला—(उसका हाथ पकड़कर) मैं उसे इस योग्य नहीं छोड़ूँगी कि फिर वह किसी स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार करे। नहीं···तनिक नहीं, तुम न घबराओ। मुझे स्वीकार करके वह तुम पर कृपा करता। अब वह तुम्हारी कृपा चाहेगा कि तुम अपनी बहन उसे दो। भैया, तुम

उसकी एक बात न सुनना कह देना तुम अयोग्य हो। चाहिए तो यह था कि लुककर मैं उसे देखती (हँसकर) और जब लुक-छिपकर मुझे देखना उसने चाहा तो फिर चाहे उसकी देह सोने के पत्तर में मढ़ी हो, उसके भीतर वह पुरुष कहाँ है जिसकी ओर मैं····

(नाक और भौंहें टेढ़ी पड़ती हैं।)

मोहन—लुक-छिपकर वह तुम्हें देखना चाहता था। नीच···

शीला—नीच नहीं निर्बल। जिसकी पुरुष-देह में स्त्री का मन है जो प्रणय की भीख माँगता फिरता है। अपने घर का संकट जानकर··· जानकर कि मेरे भाई मेरे सुख और सुविधा के लिए, मुझे रानी बनाने के लिए अपने सम्मान का त्याग कर रहे हैं, जिससे बड़ा त्याग पुरुष के लिए कोई दूसरा होता नहीं, यही चाहती थी मैं कि यह संयोग बैठ जाय। वह मुझे खींचना चाहता था अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से, शिक्षा और धन के दम्भ से। किसी-न-किसी बहाने मैं बराबर उसके पास रहूँ, मुझे देखता रहे, मुझसे बातें करता रहे। मेरे भीतर उसके लिए कुछ छिपा न रहे, कुछ रहस्य न रहे। दो ही दिन में वह सब-कुछ जान जाय, उसकी सारी भूख मिट जाय।

मोहन—कुछ न कहो, अब मैं सिर पीट लूँगा!

शीला—इतने सीधे हो भैया तुम! तुम्हारे मित्र के हाथ में लेंसेट बराबर रहता है। वे सब कहीं बहुत गहरे चीरकर देखते हैं वहाँ क्या है? और तुम उनके ऊपर की चमक-दमक में यह भी नहीं देख सके कि भीतर कितना विष है उनके। सिर पीटने से नहीं बनेगा। हँस सको तो उनकी मूर्खता पर हँसो। पुरुष का गुण न धन है, न रूप, न विद्या; कहाँ तक वह अपने को रोक पाता है, कितना संयम उसमें है?

मोहन—एँ, कैसी आहट है? आ रहे हैं तब वह···शीला उसका अपमान न करना। तुम्हारे घर आया है कम से-कम इतना···।

शीला—आधी बात कहते हो। कहो, फिर मैं कहूँगी? अपमान वह स्वयं अपना करते हैं। मैं उनका अपमान क्या करूँगी। पुरुष जब स्त्री का शिकार करता है, सम्मानित नहीं रह जाता। फिर भी विश्वास करो, मैं अपने पर अंकुश रखूँगी।

मोहन—और वह जो-कुछ पूछे उसका निडर उत्तर दोगी?

शीला—(हँसकर) तुम्हारे मित्र मुझसे लड़ेंगे नहीं। डरने की बात क्या है? रावण की लंका में जानकी उससे नहीं डरीं और अब मैं अपने घर में उनसे डरूँगी?

मोहन—तुम जानकी नहीं हो। यह युग अब जानकी का नहीं है।

शीला—जानकी का युग इस देश से कभी नहीं मिटेगा। मैं जानकी हूँ। इस देश की कोई भी स्त्री जानकी है। जब तक हमारे भीतर जानकी का त्याग है। जानकी की क्षमा है तब तक वही हैं। तुम्हारे लिए जानकी पौराणिक हैं इसलिए असत्य हैं। मेरे लिए वह भावगम्य हैं। उनके भीतर मेरी सारी समस्याएँ, सारे समाधान हैं। राम में तुम अविश्वास कर सकते हो, जानकी में अविश्वास का अधिकार तुम्हें नहीं है।

[निरंजन का प्रवेश। अवस्था प्रायः तेईस वर्ष। लम्बा-छरहरा गोरा शरीर। नुकीली नाक आँखों पर चश्मा। इस नये युग की वेश-भूषा प्रभाव की मुद्रा।]

निरंजन—गाड़ी का समय जा रहा है मोहन!

शीला—इस समय आप नहीं जायँगे। आइए, बैठिए।

निरंजन—जी आपके बाबूजी भी यही कह रहे हैं; लेकिन अब चला ही जाना ठीक है।

शीला—बैठिए भी, चले जाने वाले को कब किसने रोका है?

निरंजन—आप भी बैठें। (मेज के पास कुर्सी पर बैठता है मोहन निकल जाता है।) कहाँ जा रहे हो ?

मोहन—(नेपथ्य में) तुम्हारा सामान ठीक कर दूँ।

शीला—आप मुझसे अकेले में बातें करना चाहते थे। यह अवसर ठीक है।

निरंजन—इसलिए कि आप मेरी छाया से भागती रही हैं। बोलिए···।

शीला—आप के घर में···मायके में कोई भी लड़की आप-जैसों से भागेगी। ऐसा न होना संकट की सूचना है, इतना भी नहीं जानते आप ?

निरंजन—उँह····आपके विचार बड़े पुराने हैं नया भारत अब आप लोगों से कुछ और चाहेगा।

शीला—भारत वही पुराना है। आप उसे नया बनाकर उसकी प्रतिष्ठा बिगाड़ रहे हैं। वह क्या चाहता है उसको देखिए, उसको समझिए! जो आप चाहते हैं, उसका आरोप इस पुराने भारत पर न कीजिए।

निरंजन—इस युग का····इस बीसवीं सदी का स्वतन्त्र भारत पुराना है ? पुराने विचारों में, पुरानी रूढ़ियों में जकड़े रहने का समय अब लद गया। आप देहात में हैं। शहर में रहतीं, वहाँ की लड़कियों को देखतीं, सिनेमा और स्त्रियों के समाज में जातीं····

शीला—कहीं भी रहती····कहीं भी जाती फिर भी मेरी आँखों में भारत नया नहीं लगता। इसकी चाल कभी रुकी नहीं, न यह कभी मरा न मिटा। एक साँस भी इसकी कब बन्द हुई, बतायँगे ? इसने कितने देशों को जन्म लेते और मरते अपनी आँखों देखा है। इसकी आयु की, इसकी संजीवनी-शक्ति की, प्रतिष्ठा कीजिए।

निरंजन—अरे····आप बड़ी भावुक हैं। मैं तो गनगना उठा।

शीला—इसकी पताका जब प्रशान्त से लेकर भूमध्य सागर तक उड़ी थी उस समय अपनी कन्याओं से जो इसने न चाहा, अब न चाहेगा।

निरंजन—यह कविता की भाषा मैं नहीं समझ रहा हूँ।

शीला—आप जिस साँचे में ढल चुके हैं उसमें इस पुराने देश को न ढालिये। इसका अपना साँचा है, बने तो अभी भी समय है, उसमें फिर से अपने को ढालिए। जिस देश की रूढ़ियाँ मिट जाती हैं वह देश भी मिट जाता है।

निरंजन—आप तर्क करना जानती हैं। मैं तो समझा था कि···

शीला—आप समझे थे, मैं गूँगी हूँ। आपके सामने मैं बोल न पाऊँगी।

निरंजन—जो कहें आप······फिर भी जिसके साथ जीवन-भर रहना हो, उसे ठीक से जान लेना···मैं ही नहीं, कोई भी शिक्षित व्यक्ति चाहेगा।

शीला—जो आप-सा सजग रहेगा। थोड़ी देर किसी लड़की से बातें करके उसके भीतर का सब-कुछ खोलकर देख लेना। इस काम में वह बराबर ठगा जाता है फिर भी उसे चेत नहीं होता।

निरंजन—भावी पत्नी को ठीक से देख लेना, समझ लेना, ठगा जाना है? कैसी बेढंगी बात आप कह रही हैं?

शीला—आपकी अवस्था का पुरुष जब मेरी आयु की लड़की के पास जाता है, अन्धा हो जाता है! और कहीं संयोग से लड़की सुन्दरी हुई तो वह उन्मत्त हो उठता है। अन्धा क्या देखेगा? उन्मत्त क्या समझेगा? इसलिए अपने-आप न देखकर किसी दूसरे से दिखा लेना आप-जैसों के हित की बात है। आपको साहस कैसे हुआ कि यहाँ

तक चले आए मुझे देखने के लिए ?

निरंजन—आपके भाई ने मुझसे प्रार्थना की···

शीला—उनकी प्रार्थना पर आप कुएँ में कूदेंगे ? साँप उठाकर गले में लपेट लेंगे । भावी पत्नी ? पत्नी कब और कहाँ भावी हुआ करती है ? जब तक वह आपकी हो न जाय, आप उसके न हो जायँ ?······

(हँसती है ।)

निरंजन—तो इसलिए आप बुलाने पर भी मेरे पास नहीं आईं । मुझसे भागती फिरीं । मैं समझता था देहात की लड़की होने से आप लजा रही हैं । आप पर्दे में रहना चाहेंगी ।

शीला—जी······अकेले एक पुरुष में जिस स्त्री का प्राण समा जाता है वह किसी-न-किसी प्रकार के परदे में रहना ही चाहती है । लुक-छिपकर आप मुझे देखने की चेष्टा करते रहे । बार-बार नाम लेकर आपने बुलाया······दो बार मैं गई भी, फिर भी आपका सन्तोष इतने से नहीं हुआ । मैंने देखा, आप संयम छोड़ रहे हैं, आपका स्वभाव बिगड़ रहा है ।

निरंजन—मेरे स्वभाव की आलोचना करने का अधिकार आपको नहीं है । मैं यहाँ बुलाने पर आया था, आप जानती हैं । इस भभकती लू, धधकते आकाश में, मैं नैनीताल होता ।

शीला—मेरे लिए आपको कष्ट हुआ, इसकी मैं कृतज्ञ हूँ । आपके स्वभाव की आलोचना मैं न करूँ, आपका मन करेगा, समाज की मान्यताएँ करेंगी, और अब मुझे भी क्यों नहीं है यह अधिकार महोदय ? जितना कोई विवाह के बाद अपनी पत्नी से पाता होगा, उतना आप मुझसे पहले ही ले लेना चाहते थे । सब-कुछ मैं आपको अभी दे देती तो फिर बाद के लिए क्या रखती ? और न सही, मानसिक लगाव तो आप पैदा कर चुके हैं । अब आप जब किसी दूसरी लड़की

को देखने जायँगे आपके मन में मैं झूल उठूँगी। आँखों में लहरा जाऊँगी। मुझे पार करके आपकी आँखें उस बेचारी को देख न पायँगी। पहले और भी कोई लड़की देख चुके हैं आप ?

निरंजन—इससे आपका मतलब क्या है ? देखा हो या न देखा हो ? मैंने कष्ट दिया आपको, क्षमा करें, मैं अब चलूँ।

(कुर्सी से खड़ा होता है। शीला बढ़कर उसका हाथ पकड़ लेती है।)

शीला—अभी आप नहीं जायँगे। अभी आपने ठीक से न मुझे देखा, न समझा। और फिर रूठकर आप चले जायँ ? इस देश की सबसे बड़ी, पत्नी की कामना में आप यहाँ आये थे और लेकर जायँगे क्या ?

निरंजन—आप तो मुझे चक्कर में डाल रही हैं ! आपको समझना बड़ा कठिन काम है। कहिए, फिर न जाऊँ तो क्या करूँ ?

शीला—पुरुष की समझ में स्त्री कभी नहीं आती। मुझे आप जितना ही अधिक समझना चाहेंगे, मैं आपसे उतनी ही दूर होती जाऊँगी। सन्देह का भार पुरुष ढोता है, स्त्री विश्वास चाहती है।

निरंजन—तब ?······

शीला—यह अवसर न दीजिए कि स्त्री की जीभ चले; वह तर्क करे, प्रगल्भा और वाचाल बने। पुरुष समुद्र की थाह लगा लेगा। स्त्री में वह बराबर डूबता आया है।

निरंजन—मनुष्य की सीधी बोली में कहिए। संकेत की यह भाषा मैं नहीं जानता।

शीला—तब आपने इतना सचेत, इतना सजग क्यों रहना चाहा। कुमारी के सपने न तो पुरुष के धन के, न विद्या के, न रूप के होते हैं। वहाँ कुछ दूसरा ही रहता है।

निरंजन—(विस्मय में) तो फिर कह दें, मैं भी जान लूँ।

शीला—कह दूँ? आपको विश्वास न होगा।

निरंजन—कहें भी? विश्वास न करना मेरा अभाग्य होगा।

शीला—सच कहते हैं? अपने मन को टटोल लीजिए। सन्देह की छाया भी वहाँ न हो।

निरंजन—मुझे अधिक लज्जित न करें।

शीला—स्त्री पुरुष की असावधानी को, उसके अल्हड़पन को प्रेम करती है जिसमें वह अपने प्राण से भी सजग नहीं रहता, संकट से जूझता चलता है। जिसमें वह ऐसी गहरी नींद सोता है कि स्त्री को अवसर मिले कि वह उसे प्राण में उठा ले, आँखों में बन्द कर ले। कल रात-भर आप जागते रहे। अभी से यह दशा है तो आगे क्या होगा?

निरंजन—(विस्मय में) ऐं···कैसे जानती हैं आप कि मैं रात-भर जागता रहा?

शीला—हम कैसे जानती हैं? इस चिन्ता में न पड़ें। आकाश के तारे कहते हैं हमसे, पेड़ की पत्तियाँ कहती हैं, हमारे कान अधिक सुनते हैं। हमारी आँखें अधिक देखती हैं। आप ही कहें, रात-भर आप जगे रहे या नहीं? आप जो कहेंगे, मैं वही मान लूँगी।

निरंजन—ठीक कह रही हैं··· रात मुझे नींद नहीं आई।

शीला—लेकिन क्यों? क्या इस आयु में आपको कंकड़ों पर नींद न आ जानी चाहिए? क्या यह आपके मन का रोग नहीं है? यह देश नया नहीं पुराना, बहुत पुराना, वृद्ध हो चुका है। यह चाहता है कि इसमें जो पैदा हों, इसी की तरह लम्बी आयु के हों। उनके बाल पक-कर हिमालय की आभा पैदा करें। आपके नींद न आने का अर्थ है कि आप इस देश के प्रति ईमानदार नहीं हैं। नये के फेर में न पड़कर

पुराने को समझें; आपके लिए, आपके समाज के लिए इसी में कल्याण है।

निरंजन—तो आपके कहने का मतलब है कि मुझे आपको देखने या बातें करने का···

शीला—जी···आज मैं आपके सामने हूँ···आप मुझे इस रूप में देख रहे हैं···कहीं मैं बीमार पड़ जाऊँ···कोई अंग सूना पड़ जाय···एक आँख फूट जाय तब तो आप मुझे छोड़ देंगे ?

निरंजन—मैं इतना नीच हूँ ! क्या कह रही हैं आप यह ? मेरे भीतर भी हृदय है, उसमें प्रेम और कर्त्तव्य दोनों हैं।

शीला—फिर देखने या बातें करने में क्या धरा है ? सन्देह से जहाँ आरम्भ है, वहाँ अन्त भी सन्देह है। किसका साहस होगा कि अन्धी या लँगड़ी कन्या का प्रस्ताव भी आपसे करेगा ? अपने मित्र का विश्वास आप न कर सके, किसी दूसरे को भेज देते और मुझे देखते तब जब वह आपका अधिकार होता।

निरंजन—(मुस्कराकर) विवाह के बाद···

शीला—तब क्या, और तब मैं आपके चारों ओर ऐसे भाँवर देती जैसे यह पृथ्वी सूर्य की भाँवरी देती है। उसके लिए आपको प्रयत्न न करना पड़ता। आपके आकर्षण में बँधकर मैं ऐसी विवश रहती जैसी यह पृथ्वी सूर्य के आकर्षण में विवश है।

निरंजन—शीला···इधर देखो···

शीला—अभी नहीं, पहले वह आकर्षण···और तब इसके लिए मैं विवश रहूँगी।

निरंजन—तब मैं कह दूँ तुम्हारे बाबूजी से···

शीला—कह दो···लेकिन इस नये युग का नया पुरुष यह सब कहने-कहाने में रूढ़िवादी बनेगा।

निरंजन—तो तुम अभी आघात करती चलोगी।

शीला—जब तक हम दोनों दो व्यक्ति हैं।

निरंजन—दो व्यक्ति तो हम बराबर रहेंगे।

शीला—यह नया मत है। पुराने में दो व्यक्तियों के भेद और साहस का मिट जाना ही प्रणय है। यहाँ न रुचि-भेद है, न बुद्धि-भेद। शंकर का आधा शरीर इसीलिए पार्वती का है।

निरंजन—यह सब तुम कहाँ जान गईं ?

शीला—अपने संस्कार से। सब-कुछ पढ़ा ही नहीं जाता, कुछ अनुभव भी किया जाता है।

निरंजन—कैसे कहूँगा, मुझे तो लाज आ रही है। कल तक यह जितना सरल था अब नहीं है। मैं यहाँ अपने मित्र का उपकार करने आया था और अब यह मेरे साथ उपकार हो रहा है।

शीला—बस, वही पुरानी बात। कन्या के प्रार्थी यहाँ बराबर पुरुष होते रहे हैं। तुम्हें भी वही करना पड़ा। इस नये युग, इस नई सभ्यता में भी। तुम्हें भी दान लेना पड़ेगा किसी की कन्या का।

निरंजन—और वही दान मेरा सबसे बड़ा धन होगा शीला! मैं भूला था। अब मुझे नींद आयगी, ऐसी गहरी कि तुम···

शीला—गला क्यों भर आया ? इतने अधीर अभी······

निरंजन—सम्भवतः हम लोगों का पूर्व-जन्म का संयोग था—

शीला—निश्चित। जीवन-भर का सुख और सन्तोष इसी विश्वास पर टिकता है।

निरंजन—(उसकी उँगलियाँ पकड़कर) इस एक दिन में मेरा सारा जीवन समा गया, इसके पहले जो-कुछ था और बाद को जो-कुछ होगा।

शीला—सब इसी एक दिन में मिल जायगा, क्यों!

निरंजन—इसी एक दिन में···

[दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं ।]

(पर्दा गिरता है ।)

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

श्री प्रेमीजी का नाम 'प्रसाद' जी के बाद ऐतिहासिक नाटककारों में बड़े गर्व के साथ लिया जाता है। प्रसादजी ने भारत के बौद्धकालीन इतिहास को अपने नाटकों की पृष्ठ-भूमि बनाया और प्रेमीजी ने मुगलकालीन भारतीय इतिहास को अपने नाटकों के लिए अपनाया। उन्होंने राजस्थान की वीर भूमि में सोये हुए शौर्य को जगाने के लिए अपने नाटकों द्वारा अटूट प्रयत्न किया।

प्रेमीजी ने अपनी कवि-सुलभ प्रतिभा का परिचय नाटक के क्षेत्र में भी उसी सबल एवं सक्रिय उन्मेप के साथ दिया है। प्रेमीजी ने मुख्यतः पूर्ण नाटक ही लिखे हैं, एकांकी के निर्माण की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया है।

उनके एकांकी-नाटकों का संग्रह 'मन्दिर' नाम से छप चुका है।

पात्र-परिचय

महाराणा लाखा	...	...	चित्तौड़ के महाराजा
राव हेमू	...	...	बूँदी के महाराजा
वीरसिंह	...	...	मेवाड़वासी एक हाड़ा सेनाध्यक्ष
अभयसिंह	...	...	मेवाड़ी सेनापति
चारणी	...	...	राजपूत वीरों के यश गाने वाली गायिका

मान-मन्दिर

पहला दृश्य

(स्थान—बूँदी-गढ़ । बूँदी के राव हेमू अपने कमरे में मेवाड़ के सेनापति अभयसिंह से बातचीत कर रहे हैं ।)

अभयसिंह—राव साहब ! सीसोदिया-वंश हाड़ाओं को आदर और स्नेह की दृष्टि से देखता है ।

राव हेमू—तो फिर आप बूँदी को मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने की आज्ञा लेकर क्यों आए हैं ?

अभयसिंह—राव साहब, हम राजपूतों की छिन्न-भिन्न असंगठित शक्ति विदेशियों से किस प्रकार सामना कर सकती है ? आप तो जानते ही हैं कि जब तक पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों को भारत के सभी राजाओं की सम्मिलित और संगठित शक्ति का सामना करना पड़ा तब तक इस देश का मान नहीं घटा, लेकिन जैसे ही पृथ्वीराज और जयचन्द ने देश की शक्ति को तीन-तेरह कर दिया वैसे ही इस गौरवशाली देश का गौरव अस्त हो गया ! राव साहब, इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम अपनी शक्ति एक केन्द्र के अधीन रखें ।

राव हेमू—और वह केन्द्र है चित्तौड़ !

अभयसिंह—इसमें भी कोई सन्देह है, राव साहब ! यद्यपि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का विध्वंस कर दिया था, किन्तु वह विध्वंस भी कितना गौरवमय था ! महारानी पद्मिनी का जौहर-व्रत और मेवाड़ियों का वह अभूतपूर्व बलिदान क्या भुलाया जा सकता है ? वह वंश कितने

दिन पूर्वजों के रक्त से सिंची भूमि से वंचित रहता! उसमें महाराणा हमीर-जैसे प्रतापी वीर पैदा हुए। चित्तौड़ का गत गौरव फिर लौटा है। जो राजवंश पहले मेवाड़ के अनुगत थे, महाराणा लाखा चाहते हैं आज भी उसी तरह रहें। बीच की अव्यवस्था से लाभ उठाकर जो राजा और जागीरदार मेवाड़ी झण्डे के नीचे से हट गए हैं, उन्हें उसी के नीचे आना चाहिए। बूँदी राज्य भी सदा से मेवाड़ के आश्रित···

राव हेमू—बूँदी राज्य सदा से मेवाड़ के आश्रित! यह तुम क्या कहते हो, अभयसिंह जी! स्वर्गीय महाराजा पृथ्वीराज के वंशजों को गहलौत राजपूत अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। अभयसिंहजी किस महाराणा ने हमारे पूर्वजों को बूँदी का पट्टा दिया था?

अभयसिंह—पट्टा तो शायद नहीं दिया, लेकिन आप बता सकते हैं कि उन्होंने कैसे इस पठार पर अपना अधिकार जमाया है?

राव हेमू—हमारे कुल-गौरव स्वर्गीय देवसिंह की तीखी तलवार ने इस पर्वत-माला पर बसने वाले मीनों और भीलों को अपने काबू में करके उनसे इस देश को छीना है। मेवाड़ के सेनापति! मेवाड़ के पट्टे ने नहीं प्रलयङ्कर शंकर के अवतार देवसिंह हाड़ा के पुरुषार्थ ने हाड़ा-वंश को इस भूमि का स्वामी बनाया है। हाड़ा-वंश किसी की गुलामी स्वीकार नहीं करेगा। चाहे वह विदेशी शक्ति हो, चाहे वह मेवाड़ का महाराणा हो।

अभयसिंह—किन्तु, क्या आज तक हाड़ा राव, दशहरे और होली के उत्सवों में चित्तौड़ जाकर महाराणा के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति के फूल नहीं चढ़ाते रहे?

राव हेमू—केवल श्रद्धा और भक्ति के फूल ही नहीं मेवाड़ की मान-रक्षा में वे अपने लोहू का अर्घ्य भी चढ़ाते रहे हैं, प्राणों की बलि भी देते रहे हैं।

अभयसिंह—तो आज आपको महाराणा की अधीनता स्वीकार करने में आपत्ति ही क्या है ?

राव हेमू—वह था एक वीर राजपूत का दूसरे राजपूत के प्रति स्नेह का आदान-प्रदान। मेवाड़ के सीसोदिया-वंश से प्रति बूँदी के चौहानवंशीय हाड़ाओं का प्रेम-भाव अस्वाभाविक नहीं है। पृथ्वीराज के भी पहले से सीसोदिया और चौहान देश और जाति की मान-रक्षा में रक्त का संगम करते रहे हैं। दो वंशों की रक्त-धाराओं के संगम ने नीच-ऊँच की भावनाओं को नष्ट कर दिया था। आज महाराणा न जाने किसके बहकाने में आकर एक बेसुरी तान अलापने लगे हैं। सेनापति, आप समझदार हैं, महाराणा को समझाइए !

अभयसिंह—समझाऊँ तो तब, जब स्वयं समझूँ ! मैं तो यह जानता हूँ, कि राजपूतों को एक सूत्र में गूँथे जाने की बड़ी आवश्यकता है और जो व्यक्ति यह माला तैयार करने की ताक़त रखता है, वह है महाराणा लाखा !

राव हेमू—ताक़त की बात न छेड़ो अभयसिंह ! प्रत्येक राजपूत को अपनी ताक़त पर नाज़ है। इतने बड़े दंभ को मेवाड़ अपने प्राणों में आश्रय न दे, इसी में उसका कल्याण है। रह गई बात एक माला में गूँथने की, सो वह माला तो बनी हुई है, यह मेवाड़ का दृष्टि-दोष है कि वह उसे देख नहीं पा रहा। हाँ, उस माला को तोड़ने का श्रीगणेश अब हो गया है।

अभयसिंह—तो मेरा यहाँ तक आना व्यर्थ हुआ ! आप महाराणा लाखा की आज्ञा को···

राव हेमू—आज्ञा ? हाड़ा आज्ञा के नाम से चिढ़ता है !

अभयसिंह—किन्तु अनुशासन का अभाव हमारे देश के टुकड़े किये हुए है।

राव हेमू—प्रेम का अनुशासन मानने को हाड़ा-वंश सदा तैयार है, शक्ति का नहीं। मेवाड़ के महाराणा को यदि अपने ही जाति-भाइयों पर अपनी तलवार आजमाने की इच्छा हुई है तो उससे उन्हें कोई नहीं रोक सकता। बूँदी स्वतन्त्र राज्य है और स्वतन्त्र रहकर वह महाराणाओं का आदर करता रह सकता है। अधीन होकर किसी की सेवा करना वह पसन्द नहीं करता!

(नेपथ्य में गान)

कभी न अपनी आन गँवाना।

तुम हो अग्नि-पुत्र अभिमानी,
हृदय तुम्हारा है तूफ़ानी,
तुमने भय से हार न मानी,
कभी न जाना शीश झुकाना।
कभी न अपनी आन गँवाना!

पाली है प्राणों में ज्वाला,
राजपूत रण—मद—मतवाला,
कब बन्धन में बँधने वाला!
चाहे अपनी जान गँवाना।
कभी न अपनी आन गँवाना!

गौरवहीन न जीवन जीना,
चाहे पड़े गरल भी पीना,
चाहे चलनी होवे सीना,
पर न दासता को अपनाना।
कभी न अपनी आन गँवाना!

राव हेमू—सुनते हो अभयसिंह! कोई क्या गा रहा है? यह है राजपूत के जीवन का मन्त्र। आप मेवाड़ियों को यह बात नये सिरे से

समझानी न होगी। आप महाराणा को समझावें कि जिस धातु से मेवाड़ियों की तलवार बनी है उसी से बूँदी के हाड़ाओं की भी।

अभयसिंह—यह देश का दुर्भाग्य है कि...

(गाते-गाते चारणी का प्रवेश)

चारणी—रुक क्यों गये मेवाड़ के सेनापति ! क्या कहते हैं मैं भी तो सुनूँ !

अभयसिंह—ये राजनीतिक बातें हैं, चारणी ! तुम अपना गीत गाये जाओ, राजपूतों के हृदयों में आग लगाये जाओ, इस राजनीति के चक्कर तुम्हारी सीमा के बाहर हैं !

चारणी—राजनीति ! हः हः हः ! वह हमारी सीमा के बाहर है। वह केवल राजाओं की है। वह दिन आयगा सेनापति, जब राजनीति का उदय साधारण जनता में से होगा। मैंने सुना था मेवाड़ के सेनापति यहाँ आये हैं, इसीलिए दर्शन करने चली आई थी और यह जानने भी कि इस समय जब कि देश का वातावरण शान्त है दो राजशक्तियों में क्या अभिसन्धि हो रही है !

राव हेमू—कुछ नहीं देवि, बड़े मगर छोटों को हजम कर जाना चाहते हैं। चारणी, तुम जो गीत गा रही थीं, उसमें राजपूत के जीवन का मूल मन्त्र प्रतिध्वनित हो रहा था। तुम्हारे इस गीत को सार्थक करने का समय मानो आ रहा है। चारणी, तुम हाड़ाओं के प्राणों की आग सुलगाओ।

चारणी-- किन्तु, मेरे लिए तो हाड़ा और गहलौत दोनों बराबर हैं।

राव हेमू—फिर न्याय और अन्याय तो देखना होता है। आज मेवाड़ का बूँदी पर कोप हुआ है। राजपूत की तलवार राजपूत के ही खून की प्यासी हुई है।

चारणी—सर्वनाश ! महाकाल की जो मर्जी । यह भयंकर दुर्घटना भी कल्याणकारी सिद्ध हो । (प्रस्थान)

अभयसिंह—मैं तो जाऊँ !

राव हेमू—आपकी इच्छा !

(दोनों का दो तरफ प्रस्थान)

पट-परिवर्तन

दूसरा दृश्य

(स्थान—चित्तौड़ का राजमहल । महाराणा लाखा बहुत चिंतित और व्यथित अवस्था में कमरे में टहल रहे हैं ।)

लाखा—मेवाड़ के गौरवपूर्ण इतिहास में मैंने कलंक का टीका लगाया है । यह बात नहीं कि सीसौदिया-वंशीय ने कभी पराजय का मुख देखा ही नहीं, लेकिन उनकी पराजय भी विजय से अधिक उज्ज्वल होती रही है । अलाउद्दीन की चित्तौड़-विजय की घटना इस बात का प्रबल प्रमाण है । किन्तु इस बार मुट्ठी-भर हाड़ाओं ने हम लोगों को जिस प्रकार पराजित और विफल किया उससे मेवाड़ के आत्म-गौरव को कितनी ठेस पहुँची है, यह मेरा ही अन्तःकरण जानता है ।

(अभयसिंह का प्रवेश और महाराणा का अभिवादन करना)

अभयसिंह—महाराणाजी ! दरबार के सभासद् आपके दर्शन पाने को उत्सुक हैं ।

महाराणा—सेनापति अभयसिंह जी ! आज मैं दरबार में नहीं जाऊँगा, आप जानते हैं कि जब से हमें नीमेरा के मैदान में बूँदी के राव हेमू से पराजित होकर भाग आना पड़ा, मेरी आत्मा मुझे धिक्कार रही है । बाप्पा रावल और वीरवर हमीर का रक्त जिसकी धमनियों में बह रहा हो वह प्राणों के भय से रण-क्षेत्र से भाग आए यह कितने कलंक की बात है ?

अभयसिंह—किन्तु, जरा-सी बात के लिए आप इतना अनुताप क्यों करते हैं महाराणा? हाड़ाओं ने रात के समय अचानक हमारे शिविर पर आक्रमण कर दिया। उस आकस्मिक धावे से घबराकर हमारे सैनिक भाग खड़े हुए। आप तो तब भी प्राणों पर खेलकर राव हेमू से लोहा लेना चाहते थे, किन्तु हमीं लोग आपको वहाँ से खींच लाए। इसमें आपका क्या अपराध है, और इससे मेवाड़ के गौरव में कमी आने का कौन-सा कारण है?

महाराणा—जिनकी खाल मोटी होती है, उनके लिए किसी भी बात में कोई भी अपयश, कलंक या अपमान का कारण नहीं होता। किन्तु! जो आन को प्राणों से बढ़कर समझते आए हैं, जिनका इतिहास पुकार-पुकारकर कह रहा है कि अपमान-भरे युग से आत्म-सम्मानपूर्ण क्षण अधिक श्रेयस्कर है। जिनकी पच्चीस-पच्चीस हजार महिलाएँ देश और जाति की मान-रक्षा के लिए एक बारगी जौहर की ज्वाला में जल-कर मरण को अमर कर गई हैं, वे पराजय का मुख देखकर भी जीवित रहें यह कैसी उपहासजनक बात है। सुनो, अभयसिंह जी! मैं अपने मस्तक से इस कलंक के टीके को धो डालना चाहता हूँ।

अभयसिंह—मेवाड़ के सैनिक आपकी आज्ञा पर अपने प्राणों की वलि देने को प्रस्तुत हैं।

महाराणा—उनके पुरुषार्थ की परीक्षा का दिन आ पहुँचा है। मैं महारावल बाप्पा का वंशज प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक बूँदी के दुर्ग में ससैन्य प्रवेश नहीं करूँगा, अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। बूँदी के दुर्ग पर जब तक मेवाड़ की पताका नहीं फहरायगी तब तक पानी की एक बूँद भी गले के नीचे उतारना मेरे लिए गोहत्या का पाप करने के समान है।

अभयसिंह—महाराणा! छोटे-से बूँदी दुर्ग पर विजय पाने के

लिए इतनी बड़ी प्रतिज्ञा करने की क्या आवश्यकता है? बूँदी को उसकी धृष्टता के लिए दण्ड तो दिया ही जायगा, लेकिन हाड़ा लोग कितने वीर हैं, चौहानों का इतिहास उनके प्राणों को उत्तेजित करता रहता है, युद्ध करने में यम से भी वे नहीं डरते। वे यद्यपि संख्या में कम हैं किन्तु अपने पहाड़ी प्रदेश में खूब सुरक्षित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अन्तिम विजय हमारी होगी, किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा सकता कि इसमें कितने दिन लग जायँगे। इसलिए ऐसी भीषण प्रतिज्ञा आप न करें। सम्पूर्ण मेवाड़ आपके इशारे पर मरने-जीने के लिए प्रस्तुत है। आपके प्राणों का मूल्य उसे स्वर्ग-सिंहासन से भी अधिक है। कुबेर के धन से भी ज्यादा है। आपकी इस प्रतिज्ञा की बात सुनकर सब जगह अशान्ति के बादल छा जायँगे और दो राजपूत वंशों में जो भयंकर वैमनस्य की ज्वाला जल उठेगी वह बुझाए न बुझेगी और उसका लाभ उठायँगे विदेशी लोग, भारतीय सभ्यता के शत्रु। इसलिए आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि आप मेवाड़ पर दया करके, गहलौत वंश पर तरस खाकर, राजपूत जाति के हित-साधन के लिए और भारतीय स्वतन्त्रता की मंगल-कामना के लिए, अपनी इस कठोर प्रतिज्ञा को वापस ले लें।

महाराणा—आप यह क्या कहते हैं सेनापति, क्या कभी आपने सुना है कि सूर्य-वंश में पैदा होने वाले पुरुष ने अपनी प्रतिज्ञा को वापिस लिया है? महाराजा दशरथ का उदाहरण हम लोगों के सामने है "प्राण जाँय, पर वचन न जाहीं" यह हमारे जीवन का मूल मन्त्र है। जो तीर तरकस से निकलकर, कमान पर चढ़कर छूट गया उसे बीच से ही नहीं लौटाया जा सकता। मेरी प्रतिज्ञा कठिनाई से पूरी होगी, यह मैं जानता हूँ और इस बात की हाल के युद्ध में पुष्टि भी हो चुकी है कि हाड़ा जाति वीरता में हम लोगों की अपेक्षा किसी प्रकार हीन

नहीं है, फिर भी महाराणा लाखा की प्रतिज्ञा वास्तव में प्रतिज्ञा है वह पूर्ण होनी चाहिए ।

(नेपथ्य में गान)

तोड़ मोतियों की मत माला ।
ये सागर से रत्न निकाले,
युग-युग से हैं गये सम्हाले,
इनसे दुनिया में उजियाला ।
तोड़ मोतियों की मत माला ।
ये छाती में छेद कराकर,
एक हुए हैं हृदय मिलाकर,
इनमें व्यर्थ भेद क्यों डाला ?
तोड़ मोतियों की मत माला ।
माँ का मान इसी माला से
बच रे हृदय द्वेष-ज्वाला से
कर ले पान प्रेम का प्याला ।
तोड़ मोतियों की मत माला ।
इनमें कोई नहीं बड़ा है
विधि ने इनको स्वयं गढ़ा है
तू क्यों बनता है मतवाला ?
तोड़ मोतियों की मत माला ।

(गाते-गाते चारणी का प्रवेश)

महाराणा—तुम गा रही थीं, चारणी ? तुम सम्पूर्ण राजस्थान को एकता की शृङ्खला में बाँधकर देश की स्वाधीनता के लिए कुछ करने का आदेश दे रही थीं, किन्तु मैं तो उस शृङ्खला को तोड़ने जा रहा हूँ । दो आन वाली जातियों में जानी दुश्मनी पैदा करने जा रहा हूँ ।

चारणी—यह आप क्या कहते हैं महाराणा ? आपकी विवेक-शीलता पर सबको विश्वास है। जिस दिन सेनापति अभयसिंह बूँदी के राव के पास मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने का सन्देशा लेकर पहुँचे थे, उसी दिन मैंने उन्हें सचेत किया था। उसके बाद जब मेवाड़ी सेना पराजित होकर लौट आई तो मैंने समझ लिया कि मेवाड़ और बूँदी दोनों ही देशों पर विपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं। आज भी मैं आपसे अन्तिम अनुरोध करने आई हूँ कि महाराणा समय के फेर से यद्यपि आज हाड़ा शक्ति और साधनों में मेवाड़ के उन्नत राज्य से छोटे हैं, फिर भी वे वीर हैं ! मेवाड़ को उसके विपत्ति के दिनों में सहायता देते रहे हैं। यदि उनसे कोई धृष्टता बन पड़ी हो तो महा-राणा उसे भूल जायँ और राजपूत शक्तियों में स्नेह का सम्बन्ध बना रहने दें।

महाराणा—चारणी ! तुम बहुत देर से आईं !

अभयसिंह—चारणी ! महाराणा ने प्रतिज्ञा की है कि जब तक बूँदी के गढ़ को जीत न लेंगे वह अन्न-जल ग्रहण न करेंगे।

चारणी—दुर्भाग्य ! (कुछ सोचकर) महाराणा, मैं ऐसा नहीं होने दूँगी। देश का कोई भी शुभचिन्तक इस विद्वेष की आग को फैलने देना पसन्द नहीं कर सकता।

अभयसिंह—किन्तु ! महाराणा की प्रतिज्ञा तो पूरी होनी ही चाहिए।

चारणी—उसका एक ही उपाय है, वह यह कि यहीं पर एक मिट्टी का नकली बूँदी का दुर्ग बनाया जाय ! महाराणा उसका विध्वंस करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लें—महाराणा, क्या आपको मेरा प्रस्ताव स्वीकार है ?

महाराणा—अच्छा, अभी तो मैं नकली दुर्ग बनवाकर उसका

विध्वंस करके अपने व्रत का पालन करूँगा। किन्तु हाड़ाओं को उनकी उद्दण्डता का दंड दिये विना मेरे मन को सन्तोष न होगा सेनापति ! नकली दुर्ग बनवाने का प्रबन्ध करो।

[सबका प्रस्थान]

पट-परिवर्तन

तीसरा दृश्य

[चित्तौड़ के निकट एक जंगली प्रदेश में नकली दुर्ग का मुख्य दरवाजा। महाराणा लाखा और सेनापति अभयसिंह का प्रवेश।]

अभयसिंह—आपने दुर्ग का निरीक्षण कर लिया। ठीक बन गया है न ?

महाराणा—क्यों न बनता ! निस्सन्देह यह ठीक बूँदी-दुर्ग की हू-बहू नकल है। अच्छा अब इस पर चढ़ाई करने का खेल खेला जाय। इस मिट्टी के दुर्ग को मिट्टी में मिलाने से मेरी आत्मा को सन्तोष तो नहीं होगा, लेकिन अपमान की वेदना में, दर्प की तरंग में, प्रतिहिंसा के आवेग में, जो विवेक-हीन प्रतिज्ञा मैंने कर डाली थी उससे छुटकारा तो मिल ही जायगा। उसके बाद फिर ठंडे दिमाग से सोचना होगा कि बूँदी को मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने के लिए किस तरह बाध्य किया जाय ! आज तक ऐसा नहीं हुआ कि मेवाड़ के महाराणाओं की मनोकामनाएँ पूरी हुए विना रह गई हों।

अभयसिंह—निश्चय ही महाराज ! शीघ्र ही बूँदी के पठारों पर सीसोदियों का सिंहनाद होगा। अच्छा अब हम लोग आज के रण की तैयारी करें।

महाराणा—किन्तु यह रण होगा किससे ? इस दुर्ग में कोई तो हमारा पथ-प्रतिरोध करने वाला होना चाहिए।

अभयसिंह—हाँ, खेल में भी कुछ तो वास्तविकता आनी चाहिए।

मैंने सोचा है दुर्ग के भीतर अपने ही कुछ सैनिक रख दिए जायँगे जो बन्दूकों से हम लोगों पर छूँछे वार करेंगे। कुछ घण्टों ऐसा ही खेल होगा और फिर यह मिट्टी का दुर्ग मिट्टी में मिला दिया जायगा। अच्छा अब हम चलें।

[दोनों का प्रस्थान और वीरसिंह का कुछ साथियों के साथ प्रवेश]

वीरसिंह—मेरे बहादुर साथियो, तुम देख रहे हो कि हमारे सामने यह कौन सी इमारत बनाई गई है?

पहला साथी—हाँ, सरदार, यह हमारी जन्मभूमि बूँदी का दुर्ग है।

वीरसिंह—और तुम जानते हो कि महाराणा आज इस गढ़ को जीतकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। किन्तु,क्या हम लोग अपनी जन्मभूमि का अपमान होने देंगे? यह हमारे वंश के मान का मन्दिर है। क्या हम इसे मिट्टी में मिलने देंगे?

दूसरा साथी—किन्तु यह तो नकली बूँदी है।

वीरसिंह—धिक्कार है तुम्हें? नकली बूँदी भी हमें प्राणों से अधिक प्रिय है। महाराणा ने सोचा होगा, यहाँ से बूँदी साठ कोस दूर है। बूँदी के राव को उनके इस अपमान का पता भी नहीं लग पायगा। सीसोदिया सैनिक खिलौने की तरह इस मिट्टी के गढ़ को मिट्टी में मिला देंगे। किन्तु जिस जगह एक भी हाड़ा है वहाँ बूँदी का अपमान आसानी से नहीं किया जा सकता। आज महाराणा आश्चर्य के साथ देखेंगे कि यह खेल केवल खेल ही नहीं रहेगा। यहाँ की चप्पा-चप्पा भूमि सीसोदियों और हाड़ाओं के खून से लाल हो जायगी।

तीसरा साथी—लेकिन सरदार, हम लोग महाराणा के नौकर हैं। क्या महाराणा के विरुद्ध तलवार उठाना हमारे लिए उचित है? हमारा

हाड़-मांस महाराणा के नमक से बना है। हमें उनकी इच्छा में व्याघात क्यों पहुँचाना चाहिए ?

वीरसिंह—और जिस जन्मभूमि की धूल में खेलकर हम बड़े हुए हैं उसका अपमान भी कैसे सहन किया जा सकता है ? हम महाराणा के नौकर हैं तो क्या हमने अपनी आत्मा भी उन्हें बेच दी है जब कभी मेवाड़ की स्वतन्त्रता पर आक्रमण हुआ है, हमारी तलवार ने उनके नमक का बदला दिया है। और जब तक इन हाथों में तलवार पकड़ने की शक्ति रहेगी वह मेवाड़ की मान-रक्षा के प्रयत्न-शील रहेंगे, लेकिन जब मेवाड़ और बूँदी के मान का प्रश्न आयगा हम चुपचाप मेवाड़ की दी हुई तलवारें महाराणा के चरणों पर रखकर विदा ले लेंगे और बूँदी की ओर से अपने प्राणों की बलि देंगे। आज ऐसा ही अवसर आ पड़ा है।

पहला साथी—निश्चय ही जहाँ पर बूँदी है वहाँ पर हाड़ा है और जहाँ पर हाड़ा है वहाँ पर बूँदी है। कोई नकली बूँदी का भी अपमान नहीं कर सकता। जन्मभूमि हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय है। हाड़ा-वंश फौलाद से बना है। आज महाराणा को इन मिट्टी की दीवारों का सामना नहीं करना पड़ेगा, बल्कि हाड़ाओं की वज्र-देह का सामना करना पड़ेगा।

वीरसिंह—निश्चय ही। हम लोग संख्या में बहुत थोड़े हैं और हमारे पास तोपों का मुकाबला करने के लिए उपयुक्त साधन भी नहीं हैं। हमारे पास केवल अपने प्राण हैं और उन प्राणों को जन्मभूमि की मान-रक्षा के लिए चढ़ा देने की अदम्य चाह है ! संसार देखेगा कि हम अग्नि की सन्तानें अपने प्राणों में कितनी आग लिये हुए हैं। हम बुझते हुए दीपक की तरह भभककर अन्धकार में मिल जायँगे। हम बिजली की तरह कड़ककर, चमककर, आकाश का हृदय चीरते

हुए पृथ्वी के अन्तस्तल में अपनी स्मृति की दरार को छोड़कर अन्तर्धान हो जायँगे। अच्छा! अब अपनी जन्मभूमि को प्रणाम करो।

(सब दुर्ग के द्वार पर मस्तक झुकाते हैं।)

वीरसिंह—मेरे वीरो, तुम अग्नि-कुल के अंगारे हो। अपने वंश की आभा को क्षीण न होने देना। प्रतिज्ञा करो कि प्राणों के रहते हम इस नकली दुर्ग पर मेवाड़ की राज्य-पताका को स्थापित न होने देंगे।

सब लोग—हम प्रतिज्ञा करते हैं कि प्राणों के रहते इस दुर्ग पर मेवाड़ की ध्वजा न फहराने देंगे।

वीरसिंह—मुझे आप लोगों पर अभिमान है और बूँदी आप-जैसे पुत्रों को पाकर फूली नहीं समाती। यह नकली बूँदी भी हमारे भावी बलिदान को कल्पना की आँखों से देखकर मुसकरा रहा है और जिस बूँदी में ऐसे मान के धनी पैदा होते हैं, उस पर संसार आशीर्वाद के फूल बरसा रहा है। चलो हम दुर्ग-रक्षा की तैयारी करें।

(सबका प्रस्थान)

[पट-परिवर्तन]

चौथा दृश्य

(स्थान—नकली बूँदी-दुर्ग का बन्द द्वार। महाराणा लाखा और अभयसिंह का प्रवेश)

महाराणा—सूर्य डूबने को आया। नकली दुर्ग के आस-पास की भूमि वैसी ही लाल हो उठी है, जैसा कि आकाश का पश्चिमी छोर हो रहा है। यह कैसी लज्जा की बात है कि हमारी सेना नकली बूँदी के दुर्ग पर अपना झंडा स्थापित करने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकी! वीरसिंह और इसके मुट्ठी-भर साथी अभी तक वीरता पूर्वक लड़ रहे हैं!

अभयसिंह—हाँ, महाराणा, हम तो समझते थे कि घड़ी-दो-घड़ी में यह खेल खत्म हो जायगा लेकिन हमें आशा के विरुद्ध छूँछे वारों का मुकाबला करने के बजाय, हाड़ाओं के अचूक निशानों का सामना करना पड़ा। यद्यपि ये लोग गिनती में थोड़े हैं, किन्तु इन्होंने दीवारों की आड़ में उपयुक्त स्थान बनाकर हम पर गोली और तीर बरसाना आरम्भ कर दिया। हमारी सेना इस अयाचित, अचिन्तित और आकस्मिक प्रहारों से भौंचक्की हो गई। अब दुर्ग के भीतर के हाड़ाओं की युद्ध-सामग्री समाप्त हो गई। आपकी प्रतिज्ञा पूरी होने में कुछ ही क्षणों का विलम्ब है। दुर्ग की दीवारों में जहाँ-तहाँ छेद हो गए हैं और वे धराशायी होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

महाराणा—यह भी अच्छा ही हुआ कि हमारे इस खेल में भी कुछ वास्तविकता आ गई। यदि हमें बिना कुछ पराक्रम दिखाये ही दुर्ग पर अपना झण्डा फहराने का अवसर मिल जाता, तो मुझे जरा भी सन्तोष न होता और सच पूछें तो वीरसिंह की वीरता देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं चाहता था ऐसे वीर के प्राणों की किसी प्रकार रक्षा हो सकती।

अभयसिंह—मैंने भी जब दुर्ग से अग्नि-वर्षा होते देखी तब मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था और कुछ क्षणों के लिए सफेद झण्डी फहराकर युद्ध को रोक दिया था। उसके पश्चात् मैं स्वयं दुर्ग में गया और वीरसिंह को उसके साहस के लिए प्रशंसा की। साथ ही उससे अनुरोध किया कि तुम इस व्यर्थ प्रयास में अपने प्राण न खोओ। तुम महाराणा के नौकर हो, तुम्हें उनके विरुद्ध हथियार न उठाना चाहिए। किन्तु उसने उत्तर दिया कि महाराणा ने हाड़ाओं को चुनौती दी है। हम उस चुनौती का उत्तर देने को मजबूर हैं। या तो जन्मभूमि और कुल के मान की रक्षा में प्राणों की बलि हमें दे देनी होगी, या महाराणा को

इस विवेकहीन प्रतिज्ञा से विमुख होना पड़ेगा। अब तीसरा कोई रास्ता नहीं, महाराणा यदि हमारे प्राण लेना चाहते हैं तो खुशी से ले लें। लेकिन हम इतने कायर, निर्लज्ज और निष्प्राण नहीं हैं कि अपनी आँखों से बूँदी का अपमान होते हुए देखें। मेवाड़ में जब तक एक भी हाड़ा है, नकली बूँदी पर भी बूँदी की ही पताका फहरायगी।

महाराणा—निश्चय ही इन वीरों का जन्मभूमि के प्रति आदर-भाव सराहनीय है। यह मैं जानता हूँ कि इन लोगों के प्राणों की रक्षा करने का कोई उपाय नहीं। इतने बहुमूल्य प्राण लेकर भी मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी पड़ेगी। वह देखो दुर्ग की उस दरार में खड़ा हुआ वीरसिंह कितनी फुर्ती से वाण-वर्षा कर रहा है। अकेला ही हमारे सैकड़ों सैनिकों की टोली को आगे बढ़ने से रोके हुए है! धन्य हैं ऐसे वीर! धन्य है वह माँ जिसने ऐसे वीर पुत्र को जन्म दिया। धन्य है यह भूमि जहाँ पर ऐसे सिंह पैदा होते हैं!

(नेपथ्य में गान)

वह देखो नभ मुसकाता है!

चले गए माँ के दीवाने,
स्वर्ग-लोक में राज्य जमाने,
जग गाता है उसके गाने—
जो निज शीश चढ़ाता है।
वह देखो नभ मुसकाता है!

जिसकी तलवारों का पानी—
लिखता है उन्मत्त कहानी,
उसकी होती अमर जवानी—
जो माँ पर मिट जाता है।
वह देखो नभ मुसकाता है!

चले गए जिनको था जाना,
लगा हुआ है आना-जाना,
पर जाना भी अमर बनाना,
विरला ही सिखलाता है।
वह देखो नभ मुसकाता है!

(जोर का धमाका और प्रकाश होता है।)

महाराणा—वह देखो अभयसिंह, गोले के वार से वीरसिंह के प्राण-पखेरू उड़ गए। बूँदी के मतवाले सिपाही सदा के लिए सो गए। अब हम विजय-श्री प्राप्त कर सके। जाओ दुर्ग पर मेवाड़ की पताका फहराओ और वीरसिंह के शव को आदर के साथ यहाँ पहुँचाओ।

(अभयसिंह का प्रस्थान)

महाराणा—आज इस विजय में मेरी सबसे बड़ी पराजय छिपी हुई है, व्यर्थ के दम्भ ने आज कितने ही निर्दोष प्राणों की बलि ले ली।

('वह देखो नभ मुसकता है' गाते-गाते चारणी का प्रवेश)

चारणी—महाराणा! अब तो आपकी आत्मा को शान्ति मिल गई होगी। अब तो आपने अपने सिर से कलंक का टीका धो लिया। वह देखो बूँदी के दुर्ग पर मेवाड़ के सेनापति विजय-पताका फहरा रहे हैं। वह सुनिए, मेवाड़ की सेना में विजय-दुन्दुभि बज रही है।

महाराणा—चारणी! क्यों इस पश्चात्ताप से विकल प्राणों को तुम और दुखी करती हो। न जाने किस बुरी साइत में मैंने बूँदी को अपने अधीन करने का निश्चय किया था और अपने उस निश्चय को वहीं क्यों न समाप्त कर दिया जहाँ पर कि मेवाड़ी सेना बूँदी की सेना से

पराजित होकर वापस लौट आई थी। वीरसिंह की वीरता ने मेरे हृदय के द्वार खोल दिए हैं, मेरी आँखों का पर्दा हटा दिया है। मैं देखता हूँ ऐसी वीर जाति को अधीन करने की अभिलाषा करना पागलपन है। वैसा ही पागलपन जैसा कि अलाउद्दीन खिलजी की मेवाड़ियों को अपना गुलाम बनाने की लालसा थी।

चारणी—तो क्या महाराणा, इस नकली दुर्ग की आश्चर्यजनक अभूतपूर्व स्वर्ण-घटना के बाद भी मेवाड़ और बूँदी के हृदय मिलाने का कोई रास्ता नहीं निकल सकता ?

(वीरसिंह के शव के साथ अभयसिंह का प्रवेश
शव को रखकर सब उठाने वाले चले जाते हैं।)

महाराणा—चारणी ? इस शहीद के चरणों के पास बैठकर (शव के पास बैठते हैं) मैं अपने अपराध के लिए क्षमा माँगता हूँ, किन्तु क्या बूँदी के राव तथा हाड़ा वंश का प्रत्येक राजपूत आज की इस दुर्घटना को भूल सकेगा ?

(राव हेमूँ का प्रवेश)

राव हेमूँ—क्यों नहीं महाराणा ? हम युग-युग से एक हैं और एक रहेंगे। आपको यह जानने की आवश्यकता थी कि राजपूतों में न राजा है, न कोई महाराजा है। सब देश, जाति और वंश की मान-रक्षा के लिए प्राण देने वाले सिपाही हैं। हमारी तलवार अपने ही स्वजनों पर न उठनी चाहिए। बूँदी के हाड़ा सुख और दुःख में सदा से चितौड़ के सीसोदियों के साथ रहे हैं और रहेंगे। हम सब राजपूत अग्नि के पुत्र हैं, हम सबके हृदय में एक ही ज्वाला जल रही है। हम कैसे एक-दूसरे से पृथक् हो सकते हैं! वीरसिंह के बलिदान ने हमें जन्मभूमि का मान करना सिखाया है।

महाराणा—निश्चय ही महाराज ! हम सम्पूर्ण राजपूत जाति की ओर से इस अमर आत्मा के आगे अपना मस्तक झुकायँ ।

(सब बैठकर वीरसिंह के शव के आगे झुकते हैं ।)

[पटाक्षेप]

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

श्री अश्क जी ने प्रतिभाशाली कवि और उपन्यासकार होने के साथ-साथ अपनी लेखन-चातुरी का अद्‌भुत परिचय नाटक-लेखन की दिशा में भी दिया है। डॉक्टर वर्मा के 'बादल की मृत्यु' के बाद एकांकी-लेखन में श्री अश्कजी ने विशेष प्रगति की।

इसके पहले दो एकांकी 'पापी' तथा 'लक्ष्मी का स्वागत' उनकी पहली पत्नी के देहावसान पर सं० १९९३ विक्रमी में लिखे गए थे। इन्होंने सामाजिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक आदि सभी तरह के एकांकियों की रचना की है।

इनके एकांकियों के संग्रह 'देवताओं की छाया में', 'तूफान से पहले', 'कैद और उड़ान' 'पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ' तथा पैंतरे' आदि नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

नया पुराना

समय—छः-साढ़े-छः बजे सुबह

स्थान—देवचन्द के मकान का एक कमरा

[जिस कमरे में पर्दा उठता है, उसमें दायें-बायें दो दरवाजे हैं, दाईं दीवार का दरवाजा काफी परे है और मकान के बाहर दूसरे हिस्से को जाता है, बाईं दीवार का दरवाजा परे कोने में है और एक छोटी-सी कोठड़ी को जाता है, इन पर गहरे मूँगिया रंग का पर्दा है, जिसका रंग प्रातः के धुँधलके में स्याह दिखाई देता है। सामने की दीवार में दो खिड़कियाँ हैं, जिनके किवाड़ों में शीशे लगे हुए हैं, सूरज यद्यपि सामने के मकान के पीछे से निकल चुका है, तथापि खिड़कियों से उसकी रोशनी अभी कमरे में नहीं पहुँची। हाँ, किसी-किसी किरण का प्रतिबिम्ब कभी-कभी शीशों में झिल-मिला जाता है। यों कमरे में अपेक्षाकृत अंधेरा है।

दाईं ओर के दरवाजे के साथ परे को अंगीठी है, जिस पर कपड़ा बिछा हुआ है और उस पर शेविंग का सामान, क्रीम की शीशी, पाउडर का डिब्बा—कहने का मतलब यह कि स्त्री-पुरुष दोनों के टायलेट का सामान रखा है। इस अंगीठी के परे एक अलमारी है, जिसका एक पट खुला है और इसमें करीने से रखे हुए कपड़ों की तहें साफ दिखाई दे रही हैं। इस अलमारी के साथ एक खिड़की के पास आरामकुर्सी रखी है।

बाईं दीवार में, अन्दर कोठरी को जाने वाले दरवाजे के इस ओर एक अलमारी है, जिसमें ताला पड़ा हुआ है।

कमरे के मध्य में तिपाई और दो कुर्सियाँ पड़ी हैं, जिन पर दो-एक कपड़े बे-तरतीबी-से रखे हुए हैं। सामने की दीवार में खूँटियाँ लगी हैं, जिन पर बेपरवाही से कपड़े टँगे हुए हैं।

पर्दा उठते समय कमरे में एक अव्यवस्था-सी दिखाई देती है, अंगीठी की चीजें भी अस्त-व्यस्त हैं, खूँटियों के कपड़े यों ही एक-दूसरे के ऊपर टँगे हुए हैं और फर्श पर भी एक-दो कपड़े बे-तरतीबी-से पड़े दिखाई देते हैं।

खिड़की के पास एक व्यक्ति आरामकुर्सी पर चुपचाप पड़ा है। चूँकि वह कोई हरकत नहीं करता और उस कोने में अपेक्षाकृत अँधेरा है, इस-लिए पहली बार देखने पर वह नजर नहीं आता। ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि उसने पूरे कालर की कमीज और पतलून पहन रखी है और धीरे-धीरे सिगरेट पी रहा है।

तिपाई के बाईं ओर देवचन्द परेशान-सा बैठा है, जाहिर है कि उसने अभी तक स्नान, आदि नहीं किया। रविदत्त यद्यपि दूकान पर जाने के लिए बिलकुल तैयार है, तथापि अभी तक उसने बाल नहीं बनाये। शायद उनके मध्य अचानक आरम्भ हो जाने वाले कटु प्रसंग ने इस बात का अवसर ही नहीं दिया।]

रविदत्त—(एक हाथ में शीशा और दूसरे में कंघा थामे हुए) **मैं कहता हूँ दबा जाओ सब, फिर ऐसा अवसर हाथ न आयगा।**

[फिर बाल बनाने लगता है।]

देवचन्द—(आश्चर्य और क्रोध के साथ) **रवि !**

रविदत्त—(बाल बनाना छोड़कर) **तुम तो पागल हो, पचास हज़ार के गहने कोई मामूली चीज नहीं, जीवन में ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते।** (फिर बाल बनाने लगता है।)

देवचन्द—**लेकिन वह तो अमानत है।** (उठकर बेचैनी से घूमने लगता है।)

रविदत्त—(फिर बाल बनाना छोड़कर) अमानत है तो क्या हुआ, इस समय तो वह सब तुम्हारे कब्जे में है और फिर कोई लिखा-पढ़ी नहीं, रसीद-पर्चा नहीं, गवाह-शहादत नहीं, मैं कहता ही हूँ बस पी जाओ। (हँसता है।) कोई तुम्हें पूछने वाला नहीं। (फिर बाल बनाने लगता है।)

देवचन्द—लेकिन यह तो धोखा है—कपट! (फिर घूमने लगता है।)

रविदत्त—(फिर बाल बनाना छोड़कर) दुनिया में कौन धोखा नहीं करता, यह बड़े-बड़े साम्राज्य, बड़े-बड़े राष्ट्र, बड़ी-बड़ी संस्थाएँ, बड़े-बड़े व्यापार—ये सब क्या छल-कपट पर नहीं चलते? बड़े-बड़े नेताओं और विजेताओं की सफलता और ख्याति की नींव क्या कपट और छल पर नहीं रखी गई? रात-दिन तुम इस नारकीय स्कूल में झक-झक करते रहते हो। मेहनत करते हो, मरते हो, आँखें और दिमाग फोड़ते हो और इस सब परिश्रम के बदले में तुम पाते क्या हो?—इज्जत और आराम की रोटी भी तो तुम्हें प्राप्त नहीं, ठीक तरह से खा-पी भी तो नहीं सकते, मैं कहता हूँ—बस पी जाओ, दुनिया में धोखा वही है, जो उसकी आँखों से छिपाया न जा सके। (फिर कंघा बालों तक ले जाता है।)

देवचन्द—(हैरान है कि कौन सी बात सच्ची है और कौन सी झूठी) लेकिन मन की आँख-आत्मा की आँख···(फिर कुर्सी पर बैठ जाता है।)

रविदत्त—(फिर बाल बनाना छोड़कर) मन और आत्मा का खयाल रखने वाले सदैव पिछली पंक्तियों में खड़े रहते हैं, निचली घाटियों में गिरे रहते हैं, आगे बढ़ना या ऊँचे उड़ना उनके भाग्य में नहीं।

देवचन्द—नहीं रविदत्त, यह अमानत में खयानत है।

रविदत्त—(हँसता है) अमानत में खयानत···तुम बिलकुल भोले

हो मित्र ! दुनिया में हर बड़ा छोटे का, हर सबल निर्बल का और हर ऊँचा नीचे का माल छीनता है, उसकी अमानत में खयानत करता है।

देवचन्द—(अपने मन से लड़ते हुए) नहीं, नहीं मेरा स्कूल···

(उठकर फिर बेचैनी से घूमने लगता है।)

रविदत्त—साठ हजार रुपयों से तुम ऐसे दस स्कूल चला सकते हो।

देवचन्द—(रुककर) मेरे बारह वर्ष के परिश्रम और दयानतदारी से हासिल की हुई प्रतिष्ठा···

रविदत्त—इस रुपये के बल पर सिर्फ दो वर्षों में तुम इससे कहीं अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हो !

देवचन्द—दयानतदारी···

रविदत्त—रुपये का दूसरा नाम दयानतदारी है। (हँसता है।) गरीब की दयानतदारी भी बददयानती समझी जाती है।

देवचन्द—(अनुनय के स्वर में) तुम मुझे बहकाओ नहीं रवि ! तुम रानी-हार वापस दे दो।

[रवि केवल हँसकर बाल बनाने लगता है।]

—(रुककर) तुम नहीं जानते रवि, लली की माँ ने मुझ पर कितना विश्वास किया है ! आखिर मेरी पोजीशन ही क्या है ? एक साधारण प्राइवेट स्कूल का मामूली प्रिंसिपल ! (हँसता है।) जिसे तुम मैनेजर भी कह सकते हो और टीचर भी। मेरे स्कूल में डेढ़ सौ लड़कियाँ पढ़ती हैं—माना, लेकिन सौ-डेढ़ सौ लड़कियों को पढ़ाने वाले स्कूल-टीचर पर कौन इतना भरोसा कर सकता है ? लली की माँ ने किसी प्रकार का संकोच किये बिना, अपनी विपत्ति के समय, अपने साठ हजार के गहने मेरे हवाले कर दिए। नहीं, मैं उसके विश्वास को खोना नहीं चाहता।

[फिर बेचैनी से कमरे में घूमता है।]

रविदत्त—(बाल आदि बनाकर शीशे और कंघे को तिपाई पर रखते हुए) उसने अपने सब गहने तुम्हारे हवाले करने में परले दर्जे की मूर्खता की और उन सबको फिर उसे वापस देकर तुम उससे भी बड़ी मूर्खता का सबूत दोगे !

[अंगीठी से क्रीम लेकर मुँह पर मलता है ।]

देवचन्द—(उसके पास जाकर) तुमने जब रानी-हार माँगा था तब भी यही कहा था कि उससे पूछने की क्या जरूरत है, तुम जो गहना चाहो अपने काम में ला सकते हो, लेकिन तुम्हें याद होगा, मैंने उस समय भी यही उत्तर दिया था कि जिसकी अमानत है उसकी आज्ञा लिये बिना मैं ऐसे हाथ नहीं लगा सकता; पर विश्वास तो देखो, उसने कहा—"भाई साहब से पूछने की क्या आवश्यकता थी । सब गहने तो तो आप ही के पास हैं । जो चाहते उठाकर देते ।"

देवचन्द—(फिर उसके पास जाकर) यह सब क्यों हुआ ? उसने मुझ पर क्यों इतना विश्वास कर लिया ? तुम शायद नहीं समझ सकते । यह सब विश्वास, यह सब भरोसा मैंने बारह साल के कठिन परिश्रम से प्राप्त किया है, तो क्या तुम चाहते हो इतने परिश्रम से प्राप्त किये हुए विश्वास-धन को मैं लोलुपता के एक क्षण में नष्ट कर दूँ ?

रविदत्त—(कोट पहनता हुआ हँसता है ।) अरे किसका विश्वास और किसका भरोसा ! लली की माँ सब गहने तुम्हें न देती तो और क्या करती ? यदि उसके पास रहते, तो वह उसका व्यसनी पति अब उन्हें कब का ठिकाने लगा चुका होता, उसने तुम्हें दे दिए, तुम्हारे पास उनके बचने की सौ में से एक बिस्वा तो आशा थी, उसके यहाँ तो इतनी भी न थी ! कमल कहता है···

देवचन्द—(लगभग चीखकर) कमल ! वह सिर-फिरा लेखक—उसकी संगति ने तुम्हें इतना गिरा दिया है कि आज तुम बददया-

नती की खूबी समझने लगे हो। हरिकृष्ण की दूकान से मैंने उसे बीस रुपये की किताबें लेकर दीं—आज एक साल होने को आया है उसने एक पैसा तक नहीं दिया, दूकानदार के तगादों से नाक में दम आ गया। मैंने कमल से उसका हिसाब चुकाने को कहा, हँसकर कहने लगा, "इन पूँजीपतियों के रुपये मार लेना अनुचित नहीं।" आखिर वे रुपये मुझे देने पड़े। छल, कपट, धोखा, फरेब, बददयानती, बदमाशी, जालसाज़ी—हरेक के लिए वह अपने प्रगतिशील फलसफ़े से कोई-न-कोई दलील निकाल लेता है, उसके ख़याल में मानव छली और कपटी के सिवा कुछ नहीं। वह प्रगतिशील नहीं अगतिशील है। प्रगति के नाम पर कलंक है।

रविदत्त—(कपड़ों की अलमारी में से रूमाल ढूँढ़ते हुए) तुम्हारे भाग्य में असफल रहना लिखा है!

देवचन्द—बाह्य सफलता ही सब-कुछ नहीं, आन्तरिक सफलता भी कुछ चीज़ है। बाह्य शान्ति की अपेक्षा मैं आन्तरिक शान्ति को अधिक महत्त्व देता हूँ।

[कमरे में तेज घूमता है।]

रविदत्त—(शीशे में देखकर टोपी को सिर पर सजाता हुआ) यह कायरों का फ़लसफ़ा है।

देवचन्द—(पलटकर) फ़लसफ़ा छोड़ो! तुम यह बताओ कि रानी-हार वापस दोगे या नहीं?

[रवि केवल हँसता है।]

देवचन्द—देखो, चार महीने तुम्हारी शादी को हो गए, मैंने स्वयं इस बीच में तुम्हें कुछ नहीं कहा, पर अमानत तो अमानत है, अब जहाँ से उसे लिया है, वहीं उसे रख देना चाहिए।

[टोपी सिर पर सजाकर रवि केवल हँसता है।]

देवचन्द—(दुःख और क्षोभ के स्वर में) तो क्या तुम सचमुच रानी हार नहीं दोगे? देखो, इतनी देर से हम इस मकान में इकट्ठे रहते आ रहे हैं, किसी दूसरे को यह भी नहीं मलूम हुआ कि हम सम्बन्धी नहीं, केवल मित्र हैं, सब हमें भाई-भाई समझते हैं। दुःख में, सुख में, हमने एक-दूसरे का साथ दिया है, किसी तरह का झगड़ा, किसी तरह की लड़ाई हमारे इस सम्बन्ध को नहीं तोड़ सकी—तो क्या तुम इस कम्बख्त रानी-हार को इस वर्षों की मित्रता के मध्य एक भयानक खाई बन जाने दोगे? (भरे हुए गले से) रवि······रवि···!!

[कमल प्रवेश करता है।]

कमल—क्या बात है? किस बात पर बहस हो रही है?

रविदत्त—अरे है क्या, इसके······

देवचन्द—(चीखकर) रवि!

कमल—मैं पूछता हूँ, तुम दूकान पर कब जाओगे? मैं माँ जी को वहाँ बैठा आया हूँ और दूसरे रोगी भी तो बैठे हैं वहाँ।

रविदत्त—(कोने से छड़ी उठाकर चलता हुआ) क्या हाल है उनका? (घूमकर) देव, तुम भी उठो, नहाओ, कपड़े पहनो, तुम्हारे स्कूल का भी तो समय हो गया है।

[रवि कमल के साथ चला जाता है। देवचन्द कुर्सी में धँस जाता है और मस्तक पर हाथ रखकर सोचने लगता है। प्रतिमा प्रवेश करती है।]

प्रतिमा—आप अभी तक बैठे हैं स्कूल नहीं जायँगे क्या? और मैं नाश्ता लाने में देर कर दूँ तो आकाश सिर पर उठा लेते हो!

[देवचन्द दूसरा हाथ भी मस्तक पर रखकर और भी निमग्नता से सोचता है।]

प्रतिमा—चलिये, नहाइये, धोइये, खाना खाइये! भाई को चाबियाँ भिजवाइये कि वह समय पर स्कूल खोले।

[देवचन्द लम्बी साँस भरकर विवशता से पीछे को लेट जाता है। उसका सिर कुर्सी की पीठ पर और बाँहें दोनों ओर बेबसी से लटक जाती हैं। फिर कुछ क्षण बाद वह उठता है और उद्विग्नता से घूमने लगता है।]

प्रतिमा—आप इतने उदास और परेशान क्यों हैं?

देवचन्द—मैं सोच रहा हूँ।

प्रतिमा—क्या सोच रहे हैं आप?

देवचन्द—आज रवि ने मुझे एक बड़ी मुश्किल में डाल दिया है।

प्रतिमा—वैद्यजी ने?

देवचन्द—हाँ, वैद्यजी ने!

प्रतिमा—बात क्या हुई?

देवचन्द—आज मैंने उसे हार वापस करने को कहा और वह टाल गया।

प्रतिमा—दे देंगे, कहीं ले तो जायँगे नहीं और चार दिन पहन लेने दीजिए भाभी को, अभी चार महीने तो हुए हैं शादी हुए। माँगते शरमाते होंगे।

देवचन्द—(रुककर) तुम चार दिन कहती हो, मैं चार महीने भी पहनने की आज्ञा दे सकता हूँ, यदि गहने मेरे हों; लेकिन वे तो धरोहर हैं और फिर वह उन्हें वापस ही कब देना चाहता है! एक रानी-हार पर ही उसका दिल बेईमान हो गया और फिर तुर्रा यह कि मुझे भी अमानत में खयानत करने की सलाह देता है। कहता है सब-कुछ चुप-चाप दबा जाओ!

प्रतिमा—अमानत में खयानत कैसी? वह सब-कुछ तो आप ही का है।

देवचन्द—(चीखकर) प्रतिमा!

प्रतिमा—चीखिये नहीं, मेरी जबान से कोई नई बात नहीं निकली

और न आपके कानों ने······

देवचन्द—तुम्हें शर्म नहीं आती ? यदि वह मेरे गहने होते तो मैं तुम्हें नहीं देता। तुम्हें याद होगा, तुम बलदेव की शादी पर जा रही थीं, तुमने इशारा भी किया था, पर मैंने तुहें एक तीली तक को हाथ लगाने से मना कर दिया।

प्रतिमा—हाँ, मैं आपकी कौन होती हूँ, लेकिन याद है जब वैद्यजी ने माँगा था तो सबसे भारी गहना उठाकर दे दिया था।

देवचन्द—लली की माँ से पूछे बिना मैंने हाथ तक नहीं लगाया।

प्रतिमा—तो क्या उस समय न पूछ सकते थे ?

देवचन्द—मैं किसी के विश्वास का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहता।

[फिर घूमने लगता है।]

प्रतिमा—ये बहाने रहने दीजिए।

[कुर्सी में धँस जाती है]

देवचन्द—(मुड़कर चीखते हुए) मैं बहाने बनाता हूँ ? (फिर स्वर धीमा करके) कई बार आदमी मित्रों से अपने लिए कुछ नहीं कह सकता, यद्यपि दूसरों की सिफारिश करना उसके लिए सुगम होता है।

[प्रतिमा चुप रहती है।]

—और इसीलिए मैंने इनमें से किसी गहने को हाथ नहीं लगाया। तुम्हारे हाथों में एक चूड़ी नहीं रही, तुम्हारे कानों में एक फूल तक नहीं रहा, मैंने यह सब सहन कर लिया, पर मैंने यह कभी सहन नहीं किया कि किसी मेले, तमाशे, या त्यौहार पर तुम इन अमानत के गहनों में से एक छोटी तीली तक भी पहनो। तुम दयानतदारी का मतलब ही नहीं समझतीं, तुम धर्म········

प्रतिमा—(उठकर) धर्म की दुहाई न दीजिये, मैं इस धर्मात्मा-पन को जानती हूँ। एक स्त्री अपने पचास-साठ हजार के गहने एक दूसरे पुरुष के हवाले कर देती है, उसके लिए जान तक कुर्बान कर देने को तैयार रहती है और वह उसका रिश्तेदार नहीं, नातेदार नहीं, कुटुम्ब-कबीले में से नहीं···

देवचन्द—(चीखता है।) तुम क्या कहना चाहती हो ?

प्रतिमा—मैं जो कहना चाहती हूँ, आप भली भाँति जानते हैं।

देवचन्द—यही न कि मैं बदमाश हूँ, पापी हूँ, दुराचारी हूँ। लली की माँ से···प्रतिमा तुम बड़े तीखे घाव लगा रही हो। (भर्राई हुई आवाज से) मेरा दिल तो पहले ही रवि की बातों ने घायल कर दिया है।

प्रतिमा—(नर्म होकर) हो सकता है, आप पापी न हों, यह भी हो सकता है कि आपके दिल में कोई बुरा विचार न हो, पर मैं यह कभी नहीं मान सकती कि उसके दिल में भी कुछ नहीं, कोई नारी मन में किसी तरह का पाप रखे बिना किसी दूसरे पुरुष को इस तरह अपना सब-कुछ सौंप सकती है, मैं इस बात को कभी भी नहीं स्वीकार कर सकती (देवचन्द चुपचाप घूमता है।) और फिर वह पुरुष ही किसी सुकोमल भावना के बिना किस तरह इतनी भारी जिम्मेदारी अपने कन्धों पर ले सकता है ? धोखा हो सकता है, चोरी हो सकती है, चीज इधर-से-उधर हो सकती है (भेद-भरे स्वर में) और अब तो मुझे और भी सन्देह है कि यह सब-कुछ एक दिन होकर रहेगा। (फिर ऊँची आवाज से) हमारी बिसात ही क्या है ? हम आयु-पर्यन्त भी कमाते रहे तो इनमें से एक चीज की कीमत न चुका सकेंगे और आप क्या यह सब जानते नहीं। बताइए मैं इसे क्या समझूँ ?

देवचन्द—(घूमना छोड़कर) मैं सब गहने वापस कर दूँगा !

प्रतिमा—आप……

देवचन्द—मैं आज ही सब-कुछ वापस कर दूँगा। (असीम पीड़ा से) तुमने मुझे कभी नहीं समझा प्रतिमा! तुम सदैव मुझ पर झूठे अभियोग लगाती रही हो, अनकहनी बातें कहती रही हो, तुमने कभी इस बात को तनिक-सा भी स्थान तो अपने हृदय में नहीं दिया, इतनी लड़कियाँ मेरे यहाँ पढ़ती हैं, दिन-प्रतिदिन मेरे स्कूल की ख्याति बढ़ रही है। क्या तुम्हारा विचार है कि तनिक-सी मैली आँख भी इन लड़कियों की आँखों से बची रह सकती है? किन्तु भटके हुए पक्षी की भाँति तुम्हारा सन्देह कभी इस डाल पर और कभी उस डाल पर बैठा रहता है।

प्रतिमा—(पिघलकर) मैंने कभी अभियोग नहीं लगाया, मैं सदैव आपके दिल की बात करती हूँ और आपने कई बार इस बात को स्वीकार भी किया है कि मेरी बातों से आपको लाभ हुआ है। आप ही सोचिए अब तो मैं घर पर रहती हूँ, खूब चौकसी रखती हूँ। कल-कलाँ कुछ दिनों के लिए मैके चली जाऊँ और फिर पीछे कोई चीज इधर-उधर हो जाय तो क्या होगा? आप लाख सच्चे हों, लाख दयानतदार हों, पर कोई आपकी बात न मानेगा। जो बातें आपके सपने में भी नहीं आईं, वे ही आपको सुननी पड़ेंगी।

[देवचन्द बेचैनी से घूमता है।]

प्रतिमा—और फिर जिस व्यक्ति का मन एक रानी-हार पर इतना बेईमान हो सकता है, उससे और किस बात की आशा की जा सकती है?

देवचन्द—मैं आज ही सब गहने वापस कर दूँगा, अपनी विपत्ति के समय अपने शराबी पति के डर से, उसने सब आभूषण मेरे पास अमानत रख दिए थे। "लली कल बड़ी हो जायगी तो मैं उसकी शादी

कैसे करूँगी ?" उसने कहा था, "उस समय तक तो एक तीली भी न बचेगी।" और उसकी विनय और विपत्ति को देखकर मैंने यह बोझ अपने कंधों पर लेना स्वीकार कर लिया था, मैं आज ही सब-कुछ वापस कर दूँगा। (और भी ऊँची और भारी आवाज में) मेरी ओर से कोई सारे-के-सारे गहने उड़ाकर ले जाय, उसका शराबी पति उन्हें एक रात के जुए में गँवा दे, रंडियों को खिला दे, शराब में उड़ा दे, (धीमे और भरे हुए स्वर में) मेरी ओर से लली का विवाह न हो, वह निर्दोष, भोली-भाली लड़की अयोग्य भिखमंगे के हाथ पड़ जाय—मेरी बला से—मुझे क्या ? मैं आज ही उसके सब गहने वापस कर दूँगा।

[एक-दो बार कमरे में चक्कर लगाता है।]

—तुम मेरी मदद करना प्रतिमा !

प्रतिमा—मैं मदद करूँ ?

देवचन्द—देखो, जब तक मैं वह रानी-हार उन गहनों में न रख दूँ, मैं वह गहने वापस नहीं कर सकता। तुम रानी-हार लेने में मेरी मदद करो, माँगे से वह न मिलेगा और मैं नहीं चाहता कि भाभी को इसका पता लगे···

प्रतिमा—(ठहाका मारकर हँस पड़ती है) मैं कहती हूँ, इतने अभिनय की क्या आवश्यकता है ? आपने मुझे क्या बिलकुल ही बच्ची समझ लिया है ? क्या मैं कुछ नहीं समझ सकती ? इतनी चिकनी चुपड़ी बातें, यह एक्टिंग सिर्फ इसीलिए न कि मैं रानी-हार लेने में मदद दूँ और आप निश्चिंत हो जायँ और गहने ज्यों-के-त्यों···

देवचन्द—(भरे हुए गले से) प्रतिमा !

[प्रतिमा चुप रहती है।]

—अब मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ ? मैं कसम खाता हूँ कि मैं सब गहने आज ही वापस कर दूँगा। तुम चाहो तो लली की माँ से

कभी बात तक न करूँगा। चाहो तो लली का नाम रजिस्टर से खारिज कर दूँगा। तुम एक बार यह रानी-हार लेने में मेरी मदद करो। मैं चाहता हूँ कि जिस तरह मैंने उसकी अमानत ली है, उसी तरह उसे वापस कर दूँ। मैं तुम्हारी मिन्नत करता हूँ प्रतिमा !

प्रतिमा—अच्छा अब उठो, नहाओ, खाना खाओ, कपड़े पहनो और स्कूल जाओ ! आज तीज का त्यौहार है। हम दरबार साहब जाना चाहती हैं। मैं इस सम्बन्ध में सोचूँगी। अब उठो। देखो भाभी तैयार हो चुकी हैं।

देवचन्द—ठीक ! (प्रसन्नता से हाथ-पर-हाथ मारकर) मुझे तरकीब सूझ गई है। सुनो यदि भाभी जाने को तैयार हुई है, तो उन्होंने जरूर ही सब गहने पहने होंगे। जब वे ट्रंक आदि बन्द कर चुकें तो तुम बहाने से उन्हें इधर ले आना और फिर अचानक उनसे कहना, "वह रानी-हार तुमने क्या पहन लिया, इतना कीमती हार···वहाँ बड़ी भीड़ होती है, इसको उतार जाओ, न जाने कोई खींचकर ही ले जाय। फिर हाथ मलती रह जाओगी।"

प्रतिमा—अच्छा, मैं यह भी करके देख लेती हूँ। अब आप उठें···

नौकरानी—(बाहर से) मास्टर जी, चाबियाँ दीजिए, स्कूल···

देवचन्द—(प्रतिमा से) तुम मेरी चिन्ता न करो प्रतिमा, जैसे मैं कहता हूँ, वैसे ही करो। मैं आज ही लली की माँ को उसकी अमानत लौटा दूँगा। (नौकरानी से) देखो भई, तुम जल्दी जाओ लली की माँ को बुला लाओ, कहना जरूरी काम है, बिलकुल न रुकें। जल्दी चली आएँ।

[नौकरानी जाने लगती है।]

—ठहरो !

[रुपया निकालकर फेंकता है।]

यह रुपया ले जाओ, ताँगे में जाना और ताँगे में आना ।

नौकरानी—जी, उनका घर कोई बहुत दूर तो नहीं, ताँगे की क्या आवश्यकता है ! पैदल······

देवचन्द—मैं जो कहता हूँ ताँगे से जाओ ! (फिर धीमे स्वर में प्रतिमा से) देखो मेरे नहाने-खाने की चिन्ता न करो और यदि स्कूल भी ज़रा देर से खुल गया तो आफ़त न आ जायगी, लेकिन ये सब गहने मैं अभी, इसी वक्त लौटा देना चाहता हूँ । देखो प्रतिमा ! परमात्मा के लिए मेरी मदद करो । भाभी तैयार हो गई होंगी । मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ, वे सब आभूषण पहने बिना न जायँगी । और रानी-हार तो उन्हें सबसे अधिक पसन्द है । जाओ, जल्दी तैयार होकर उन्हें ले आओ और जैसे मैंने कहा है वैसे करो । चलो साड़ी बदलो······

प्रतिमा—आपका ध्यान किधर है आज ! अभी तो साड़ी बदली है ।

देवचन्द—लेकिन यह······

प्रतिमा—मैं कोई नई-नवेली बहू नहीं ! बस इन्हीं कपड़ों से चली जाऊँगी ।

देवचन्द—तो चलो ।

[दोनों जाते हैं, पर देवचन्द फिर मुड़ आता है ।]

—(अपने-आप) अलमारी को ताला लगा है, कम-से-कम उसे तो खोल जाऊँ, ताकि ताला ढूँढ़ने के लिए उन्हें दूर न जाना पड़े । [जल्दी-जल्दी जेब से चाबी निकालकर ताला खोलता है । और फिर चाबी ताले में ही छोड़कर बाहर चला जाता है ।

(कुछ क्षण खामोशी)

जिनमें परे कुर्सी पर बैठे हुए अचल व्यक्ति के मुँह से सिगरेट के धुएँ

के दायरे खिड़की की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं।

फिर प्रतिमा भाभी को साथ लिये हुए आती है। भाभी एक सीधी-सादी मोटी गलगोथनी लड़की है। मुखाकृति प्रसन्न, किन्तु किसी तरह की भावना से शून्य, भड़कीले वस्त्रों में आवृत्त है। गहनों-कपड़ों की मुहब्बत उसके चेहरे पर लिखी हुई दिखाई देती है।

प्रतिमा—बस मैं जरा बालों में कंघी कर लूँ बिखर गए हैं।

[कुर्सी पर बैठकर बालों में कंघी करती है।]

—और तनिक ये चीजें करीने से रख जाऊँ; वैद्यजी मालूम होता है इधर-उधर कर गए हैं, (हँसती है।) **उनकी आदत कभी न सुधरेगी।** (शीशा, कंघा और क्रीम आदि करीने से अँगीठी पर रखती है।) **नहीं, मास्टरजी यों ही शोर मचा देंगे। उन्हें तो तनिक-सी अव्यवस्था भी बुरी लगती है।** (कुर्सियों पर बिखरे हुए कपड़े व्यवस्था के साथ खूँटियों पर टाँगकर) **तो पाँवों में क्या पहनकर चलूँ ?** (कपड़ों वाली अलमारी के निचले खाने से एक दो जूतों के जोड़े निकालती है।) **गुरगाबी पहन जाऊँ !** (उसे उठाकर देखती है। फिर उसे अलमारी में रख देती है।) **ना बाबा वहाँ तो नंगे चलना पड़ेगा। कोई** (और फिर जैसे उसने पहले बार ही अचानक देखा हो।) **अरे तुमने तो सब गहने पहन लिये ? ना बहन, कम-से-कम यह रानी-हार तो रख जाओ, इतनी भीड़ होती है वहाँ, कोई बदमाश........**

भाभी—तुमने मुझे पहले क्यों न बता दिया ? अब इतने ट्रंक कौन उठाए ?

प्रतिमा—ट्रंक में रखने की क्या जरूरत है ? इस अलमारी में रख जाओ, ताला लगाकर चाबी साथ ले जाओ। घंटे आध-घंटे में तो हम वापस आ जायँगे। मैं तो तुम्हारे ही हित की बात कर रही हूँ, कोई खींचकर ले गया तो हाथ मलती रह जाओगी।

देवचन्द—(बाहर से) जल्दी करो, फिर वहाँ इतनी भीड़ हो जायगी कि जाना भी कठिन हो जायगा।

भाभी—(हार उतारकर प्रतिमा को देते हुए) लो करो बन्द इसे अलमारी में।

[प्रतिमा हार लेकर अलमारी में बन्द कर देती है।]

प्रतिमा—और मेरी मानो तो कर्णफूल भी इसी में रख जाओ, भीड़ में इनके साथ कान भी खिंच जाते हैं।

भाभी—ऐसा भी क्या अंधेर है, कर्णफूल तो मैं नहीं उतार सकती मुझे बुच्चा-बुच्चा रहना पसन्द नहीं।

[दोनों जाती हैं। देवचन्द धीरे-धीरे अन्दर प्रवेश करता है। प्रतिमा वापस आती है।]

प्रतिमा—(धीरे स्वर में) रानी-हार इस अलमारी में बन्द है। यह लो चाबी।

देवचन्द—चाबी की जरूरत नहीं, तुम भाग जाओ।

[प्रतिमा चली जाती है। देवचन्द कुछ क्षण तक खिड़की में जाकर बाहर की ओर देखता है। फिर वापस आता है, दरवाजा लगा देता है और फिर इधर-उधर कुछ ढूँढता है।]

—अपने-आप आज मुझे अपने घर में चोर बनना पड़ेगा।

[अन्दर कोठरी में जाकर हथौड़ी लाता है।]

—(हथौड़ी को हाथ में उछालता हुआ) तुलसीदास ने कहा है, "धीरज-धर्म मित्र अरु नारी, आपत्काल परखिये चारी।"

[हथौड़ी से ताले को तोड़कर हार बाहर निकालता है और उसे हाथों में उछालता है।]

—किन्तु दूसरा चरण बदल देना चाहिए। आजकल तो यों होना चाहिए : "गरज पड़े तो परखिए चारी।"

[हँसता है और हथौड़ी को फिर अन्दर कमरे में फेंक देता है। बाहर दस्तक की आवाज आती है। बढ़कर कुण्डी खोलता है।]

—आइये, आइये।

[माई के साथ लली की माँ प्रवेश करती है।]

(जेब से चाबी निकालकर माई को देते हुए) यह लो बाबा, जाकर स्कूल खुलवाओ। अध्यापिकाओं से कहना कि मैं आज दोपहर तक न आ सकूँगा।

[माई चली जाती है।]

—(लली की माँ से) बैठिये!

लली की माँ—(बैठते हुए) मैं तो डर ही गई थी। क्या बात है आपने इतनी जल्दी बुला भेजा।

(देवचन्द अन्दर कोठरी में जाता है और कुछ क्षण बाद एक डिब्बा उठाकर लाता है और उसे लली की माँ के सामने रख देता है और उस पर माला टिका देता है।)

लली की माँ—(हैरानी से) यह क्या?

देवचन्द—आपकी अमानत!

लली की माँ—(और भी हैरान) लेकिन......

देवचन्द—आप इसे ले जायँ।

लली की माँ—लेकिन आपने वादा किया था कि आप लली की शादी तक इन्हें अपने पास रखेंगे।

देवचन्द—पर अब यह मुश्किल है।

[लली की माँ चुप सोचती है।]

—मैं प्रतिमा के तानों से तंग आ गया हूँ।

लली की माँ—प्रतिमा तो पहले भी ताने देती थी।

देवचन्द—मुझे इनके चोरी हो जाने का डर है। नहीं, आप जिस

तरह मुझे यह अमानत सौंप गई थीं, उसी तरह ले जाइए।

लली की माँ—चोरी तो मेरे यहाँ भी हो सकती है। कोई बाहर से न आए तो घर वाला ही डाका डाल सकता है।

देवचन्द—तुम नहीं समझीं लली की माँ, मुझे बाहर के चोर का भय नहीं, अन्दर के चोर का डर है।

लली की माँ—यदि आपके चोरी हो जायगी तो मैं समझूँगी मेरे चोरी हो गई है।

देवचन्द—तुम बिलकुल नहीं समझीं लली की माँ! मुझे मन के चोर का डर है। मुझे स्वयं अपने-आपसे भय है। आज तक मुझे अपने-आप पर पूरा विश्वास था, पर आज रवि की बातों ने उस विश्वास को तोड़ दिया है। तुम्हारे आभूषण दबाए भी जा सकते हैं, यह मैंने कभी न सोचा था; किन्तु अब इस क्षण के बाद मैं कह नहीं सकता। मुझे मन का भरोसा नहीं।

[डिब्बा और रानी-हार उठाकर उसकी झोली में रख देता है। सहसा कुर्सी पर अचल बैठा रहने वाला व्यक्ति हिलता है।]

अचल बैठे रहने वाला व्यक्ति—बकवास!

[उठकर कमरे के मध्य आ जाता है।]

—बन्द करो। क्या इसी की प्रशंसा के पुल तुम बाँध रहे थे? मैं अब बड़ी कठिनाई से अपने-आपको रोके बैठा रहा। पर अब यह सब बकवास बन्द करो। (असीम उपेक्षा से) सस्ती भावुकता पुरानी, जीर्ण-शीर्ण थीम, और दकियानूसी ट्रीटमेंट। इसमें यथार्थता कहाँ है? आज का युग यथार्थता का युग है और आज इसी के दृष्टिकोण से जीवन को देखा जाता है। क्यों गजेन्द्र, क्या इसी की प्रशंसा तुम करते थे?

[जिसे हम सिगरेट समझते थे, वह सिगार है। उसी का धुआँ चक्कर खाता हुआ छत की ओर बढ़ता है।]

देवचन्द—(गजेन्द्र) पर यह तो सोलहों आने वास्तविक है। एक बिलकुल सच्ची घटना से इस नाटक का कथानक लिया गया है।

अचल बैठा रहने वाला व्यक्ति—तुम इसे यथार्थता कहते हो। कौन आज के जमाने में साठ हजार की चीज वापस कर देगा ?

गजेन्द्र—पर मनीराम ही वह आदमी है।

अचल बैठा रहने वाला व्यक्ति—(चीखकर) मनीराम मूर्ख है और आज यथार्थवादी ऐसे मूर्खों का चरित्र-चित्रण नहीं करता। वह अपवादों को छोड़कर आम आदमियों की बात करता है। वह आदर्श के पीछे नहीं भागता, यथार्थ के पीछे दौड़ता है। वह वीभत्स को चित्रित करता है। वह यथार्थवादी है—घोर यथार्थवादी। यह नाकट नहीं चलेगा। कोई और चुनो और देखो इस बार मसौदा मुझे दिखा लेना।

[खट-खट पाँव रखता हुआ चला जाता है]

गजेन्द्र—(चकित और किंकर्तव्य विमूढ़) यथार्थ···पर मैं कहता हूँ यह तो सर्वथा सत्य है। (लली की माँ की ओर देखता हुआ) सोलहों आने सत्य, मनीराम···

[पर्दा सहसा गिर पड़ता है।]

पात्र-परिचय

डॉक्टर (मनोहर)	... ...	नगर का एक प्रतिष्ठित डॉक्टर
मोहन	... ...	स्थानीय कालेज का एक छात्र
मुलिया	... ...	एक मिल-मजदूर की लड़की
गजोधर मिस्त्री	... ...	मुलिया का पिता
मुलिया की माता	... ...	

भुलिया

पहला दृश्य

[गोंदे की दीवारों पर एक मड़ैया है, ऊपर खपरैल पड़े हैं। बन्दरों के ऊधम और समय के लम्बे अवकाश ने उन्हें तोड़-फोड़कर घिस डाला। कई स्थलों में छोटे और बड़े छेद हो गए हैं। बाँस के टुकड़ों के सड़कर गिर जाने से इधर-उधर से मिट्टी झरती है। छान के छोटे-छोटे छेदों से सूर्य की किरणों के कड़े और लम्बे-लम्बे सीधे डोरे जमीन से उठकर अपनी रेखाओं से छत को जोड़ते हैं। चमकते कणों को धुएँ में बाँधे हुए यह बिना बोझ वाली बल्लियाँ खपरैल को फाड़कर न जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं। मड़ैया के एक कोने में मैले वस्त्रों में एक युवा तथा बूढ़ी स्त्री चूल्हे को बार-बार फूँक-कर मिट्टी के बर्तन में कुछ पका रहे हैं। स्त्री काली है। सिर के ऊपर की धोती को कई स्थानों से फाड़कर चिपटी लटें बाहर निकल आई हैं। पुराने-पन ने उसे और भी कई स्थलों में जर्जर कर दिया है, और उसकी छोटी-बड़ी छींटें अंगों को खोल-खोलकर भी लज्जा से सिमट जाती हैं। कण्डों के धुएँ ने घर के दो मोटे काले बच्चों को भगाकर बाहर की गन्दी नाली के पास ला बिठाया है। एक कोने में टूटे बानों वाली चारपाई में कपड़ों के कुछ गुदड़ पड़े हैं और उन पर १६–१७ वर्ष की एक कन्या भीषण ज्वर से पीड़ित पड़ी है। एकदम कृष्ण और नेत्र छबीले और मटमैले हैं। उसकी तरुणाई का सारा भार उसके अत्यन्त दुबलेपन की आड़ में कहीं छिपा हुआ है। सिर की घोर पीड़ा से वह कराह रही है। चारपाई के पास पीतल के लोटे

में आधा भरा हुआ खुला पानी रखा हुआ है। सफेद कुर्ता और ढीला पाजामा पहने हुए एक बीस वर्ष के नवयुवक के पीछे-पीछे रेशमी सूट पहने हुए हाथों में स्टेथस्कोप लिये हुए एक डॉक्टर प्रवेश करते हैं।]

तरुण—डॉक्टर साहब! इस गजोधर मिस्त्री की कन्या (कराहती हुई बालिका की ओर संकेत करके) मुलिया को आज २० दिन से ज्वर नहीं उतरा। बेचारा मिल जाते समय हाथ जोड़कर कह गया था कि किसी अच्छे डॉक्टर को दिखला देना।

डॉक्टर—ठीक है! पर मोहन बाबू! अच्छे डॉक्टर की फीस कौन देगा?

मोहन—वह मैं दूँगा डॉक्टर साहब!

डॉक्टर—तुम्हारे यहाँ तो मुझे कुछ मिलता है। परन्तु आजकल लड़ाई के समय में मिस्त्री लोग बड़े माल उड़ा रहे हैं।

(टूटी चारपाई के पास पहुँचकर आँखों को धुएँ के कारण मिलमिलाते हैं और नाक को रूमाल से भली प्रकार बन्द करते हैं।)

डॉक्टर—बड़ा गन्दा है। बुड्ढी धुआँ बन्द कर।

मोहन—इस गन्दगी में भी आप धन देखते हैं। धन रहते हुए कोई ऐसा नहीं रह सकता।

डॉक्टर—(मुस्कराकर व्यंग्य करते हुए) कुशल कंजूस अपनी लक्ष्मी को दरिद्रता के आवरण में ही छिपाये रहते हैं।

मोहन—यह लखपतियों की बात आप कहते हैं। उन्हें लाख से करोड़ का फेर बाँधना पड़ता है। यह बेचारा यह स्वाँग क्या जाने? (बुड्ढी चूल्हे को झट बुझा देती है।)

डॉक्टर—(मुलिया से) बोल छोकरी, तेरा क्या हाल है?

मुलिया—(युवक की ओर से दृष्टि हटाकर डॉक्टर से) सिर फटा जा रहा है।

डॉक्टर—(झुककर पास की काठ की ऊँची चौकी पर पैर रखकर रोगी की हृदय-गति हाथ के स्टेथस्कोप से देखते हैं और फिर दाहिने हाथ से नाड़ी की गति परखते हैं। बायें प्रकोष्ठ में लगी घड़ी को देखकर कुछ गिनते हैं।) इसे बुखार कितना रहता है ?

मोहन—यह इसके माता-पिता के हाथों से पूछिए। जब वह यह पूछकर कि बिटिया बुखार कैसा है इसके मत्थे को सहलाते हैं तो ज्वर का उतार-चढ़ाव उनकी मनुहारों पर अंकित हो जाता है। इन लोगों के पास कोई थर्मामीटर थोड़े ही रखा है ?

डॉक्टर—(थर्मामीटर लगाते हुए) इसे अस्पताल भेजना चाहिए।

मोहन—मैं भी यही समझता हूँ। पर उसके पिता भला कब मानते हैं। यह भी कहती है, मैं मर जाऊँगी।

डॉक्टर—(थर्मामीटर देखते हुए) ओह! १०५° ज्वर है। देह जल रही है। इसको देख-भाल यहाँ कौन करता है ?

मुलिया की माता—घर के काम के बाद मैं इसके पास बैठती हूँ। इसे पानी देती हूँ। दवा मिल गई तो दवा दे देती हूँ।

डॉक्टर—इसे दूध मिलता है ?

मुलिया की माता—रुपये का डेढ़ सेर दूध! बड़े-बड़ों को नसीब नहीं है, डॉक्टर साहब! हम लोग इस बिटिया पर सौ-सवा सौ रुपये खर्च कर चुके हैं। अब तो कौड़ी-कौड़ी की तबाही है। मोहन बाबू जब मुनक्का भेजते हैं तब पथ चलता है।

डॉक्टर—तो काम कैसे चलेगा ? दवा कैसे आयगी ?

मुलिया की माता—कुनैन दे-देकर डॉक्टरों ने लड़की का चोला भस्म कर दिया।

डॉक्टर—चुप रह बुढ़िया!

मुलिया की माता—मोहन बाबू की जय-जयकार है। बड़े दयालु

हैं। जहाँ आकर मुलिया के सिर पर हाथ रखा, वह हँस देती है, नहीं तो दिन-भर कराहा करती है।

डॉक्टर—(मुस्कराकर) मोहन बाबू, इसकी दवा और इसके दूध का प्रबन्ध होना चाहिए। यदि मेरी दवा कीजिएगा तो १० रु० रोज से क्या कम बैठेगा ?

मोहन—डॉक्टर साहब, मैं तो विद्यार्थी हूँ, पिता की उदारता पर जीने वाला। इतना प्रबन्ध तो इस समय कठिन होगा। कुछ कम नहीं कर सकते ?

डॉक्टर—लड़ाई के कारण सब दवाइयाँ महँगी हो गई हैं। फिर भी अभी क्या चिन्ता है। बिल पहुँच जायगा। मैं तुमसे कुछ बाहर थोड़े ही हूँ। रुपये बाद में मिल जायँगे।

(दोनों बातें करते-करते बाहर निकल आते हैं)

डॉक्टर—दवा लेने कौन आयगा मोहन बाबू ?

मुलिया की माता—(पीछे-पीछे बाहर निकलकर) मुलिया के बाप तो सात बजे शाम को आयँगे।

मोहन—मैं स्वयं आऊँगा।

डॉक्टर—दो खूराक मैं अपने नौकर के हाथ भेज रहा हूँ। आज आठ बजे रात को मुझसे मिलो। आगे का प्रबन्ध सोचेंगे।

मोहन—जो आज्ञा।

(डॉक्टर साहब जाते हैं)

(मोहन भीतर फिर आ जाता है और मुलिया के सिर पर हाथ फेरता है। वह आँखों से हँसने लगती है। और फिर माता को आते देखकर कुछ झेंप-सी जाती है। चारपाई पर उठना चाहती है। मोहन उसे उठने नहीं देता।)

(माता लड़कों को खाने के लिए बुलाने बाहर जाती है।)

मुलिया—आप बड़ी तकलीफ कर रहे हैं।

मोहन—मैं कुछ कर ही नहीं पाता।

मुलिया—मैं अब अच्छी न होऊँगी। दादा रोयेंगे, अम्मा मर जायँगी।

मोहन—ऐसा न कहो! आज से तुम्हारी दवा मैं करूँगा।

मुलिया—दादा ऋणी हो गए हैं। मैं यह नहीं चाहती। मैं जी भी गई तो अम्मा मुझे कोसेंगी।

मोहन—मैं ऋण थोड़े ही देता हूँ। मैं रुपये न माँगूँगा।

मुलिया—तुम बड़े आदमी हो। हमारे भाग्य फूटे हैं। दादा इतने पैसे पैदा करते हैं। मेरे कारण घर में छूत लग गई है। आज खाने को भी नहीं है। (आँसू भर लेती है)

मोहन—(आँसू छलक आते हैं) तुम बीमारी में चिन्ता न करो। डॉक्टर जो दवा भेजें, खा लेना। (खड़ा होकर) मैं दूध भेजूँगा। कल फिर डॉक्टर आयँगे।

[मोहन चला जाता है। मुलिया नेत्र बन्द कर लेती है]

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

[डॉक्टर मनोहर बी० एस्०-सी०, एम्० बी० बी० एस० के नाम का तख्ता लगा है। अस्पताल एक लम्बे-चौड़े मकान में है। रोगी और उनके घर वाले सब दवा ले-लेकर चले जा रहे हैं। रात को साढ़े आठ बजे होंगे। डॉक्टर साहब अपने एक मित्र के साथ बैठे बैठे गप्पें लड़ा रहे हैं। बीच-बीच में इनका सारा अट्टहास मानो रोगियों के दर्द का उपहास करता है। काले कपड़े में मशीन के काले काजल लगाता हुआ काला शरीर और काला मुँह लिये एक अधेड़ व्यक्ति डॉक्टर के सामने हाथ जोड़े खड़ा है। डॉक्टर साहब को अपने विनोद से इतना अवकाश नहीं मिलता कि उसकी ओर मुड़कर देख लें।]

डॉक्टर साहब—(सहसा मिस्त्री की ओर देखकर) मैंने कह तो दिया। दो रुपये जमा कर दो और अपनी शीशी ले जाओ। यह खैराती दवाखाना थोड़े ही है। दिन में दवा इसीलिए नहीं गई।

मिस्त्री—सरकार! इसके दाम मोहन बाबू देंगे।

डॉक्टर—कोई भी दे इसके दाम! नकद दो और दवा ले जाओ।

मिस्त्री—बाबू ने कहा, बिल में दाम जुड़ जायँगे।

डॉक्टर—मूर्ख, अबोध! महीनों में बिल के रुपये मिलते हैं। सूद कितना हो जाता है।

[मोहन का सहसा प्रवेश]

मोहन—(मिस्त्री की ओर क्रोध से देखकर) क्या दवा अभी नहीं आई?

डॉक्टर—यह बड़ा झक्की है। इतनी देर से बातें बनाता रहा है, जाता नहीं।

[कम्पाउण्डर हाथ बढ़ाकर शीशी दे देता है, मिस्त्री चल देता है]

डॉक्टर—ये लोग बड़े चतुर होते हैं मोहन बाबू! बनकर बातें करना इन्हें बहुत आता है। मैं सोचता था कि इस कंजूस से कुछ निकल आता तो बिल में यह रकम नहीं दिखाई जाती।

मोहन—डॉक्टर साहब, एक बार जब बात हो गई तो झिक-झिक करने से क्या काम?

डॉक्टर—देखो मोहन, तुम लड़के हो। लड़कों की बुद्धि पगली होती है। तुम्हारे पिता बिना समझे थोड़े ही बिल चुका देंगे। एक-एक रकम का हिसाब समझाना पड़ता है।

मोहन—सभी धनिक एक ही मधु-कोष की मक्खियाँ हैं।

डॉक्टर—अपने पिता का अपमान करते हो?

मोहन—नहीं डॉक्टर, मैं आपके समुदाय की टीका कर रहा हूँ।

डॉक्टर—तरुणों के स्वप्नों से दुनिया नहीं चलती।

मोहन—गले-पुराने तारों पर भी बिजली बहुत दिनों तक नहीं दौड़ सकती। बूढ़े को भी सँभल जाना चाहिए। (कुरसी घसीटकर बैठ जाता है।)

डॉक्टर—बूढ़ों से होड़ करना जवानों की शोभा नहीं है।

मोहन—और तरुणों को हमेशा पछाड़ते रहना बूढ़ों का धर्म है ?

डॉक्टर—तरुणों में शिष्टता होनी चाहिए।

मोहन—और बूढ़ों में शालीनता होनी चाहिए। नहीं तो हँसी होगी। कल मेरे बँगले के सामने एक सफेद लम्बी दाढ़ी वाला मुसलमान अचकन और पाजामे से लैस होकर चूँ-चूँ करती हुई बिलकुल छोटी बाइसिकिल पर आता हुआ कालेज के एक तरुण विद्यार्थी की साइकिल से आगे निकल जाना चाहता था। हँसी उसकी टर्की टोपी की हिलती हुई चोटी पर डटकर बैठ गई थी। दर्शक कहकहा क्यों न लगाते ?

डॉक्टर—मोहन बाबू ! क्या बूढ़े बाइसिकिल पर न चढ़ें ? उनकी साइकिल भागे नहीं।

मोहन—अवश्य चढ़ें, और तरुणों से दौड़कर आगे निकल जायँ, पर दुनिया के कहकहे को भी सहें।

डॉक्टर—तुम्हें हम लोगों की हँसी उड़ाने में आनन्द आता है।

मोहन—नहीं, बड़ा दुःख होता है। आप लोग पुराने जर्जर पुल की हिलती हुई पटरियों पर समाज की रेल दौड़ाये जा रहे हैं। एक-न-एक दिन वह ध्वंस होगा ही।

डॉक्टर—मोहन ! तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?

मोहन—मुलिया की दरिद्रता देखकर मेरा जी खौल रहा है।

डॉक्टर—मुलिया तुम्हें अच्छी लगी क्या ? (मुस्कराते हैं) मैं लालाजी से कह दूँ !

मोहन—मुझे अब सभी गरीब अच्छे लगते हैं। आपके व्यंग्य की मुझे परवाह नहीं।

डॉक्टर—बेटा! करोड़ों घर तो उससे भी ज्यादा दरिद्र हैं।

मोहन—यही तो और भी रोना है, उन्हें अभी मैंने देखा भी नहीं है।

डॉक्टर—देखा तो मैंने भी नहीं, पर सुनता हूँ।

मोहन—अमीरों के आवास की सुगन्ध, धनिकों के धवल वस्त्र, रईसों की मोटरें आपको छोड़ें तब न।

डॉक्टर—आज ही तुम्हारे साथ गया था।

मोहन—मेरे साथ गये थे न! मैं भी तो एक बड़े रईस का लड़का हूँ। साधारण-से-साधारण पुस्तक भी लोग पढ़ने दौड़ते हैं, यदि उसका परिचय किसी ख्यातनामा कलाकार ने लिखा हो।

डॉक्टर—मैं अपना मत्था कहाँ पचाता फिरूँ!

मोहन—धन को बराबर पकड़ने का अभ्यास थोड़ा शिथिल कीजिए। देखिए कितने गरीब रोगी आपके पास दौड़ते हैं और आपका कितना नाम होता है?

डॉक्टर—मेरा अपने पेट की ओर भी तो ध्यान है।

मोहन—पेट की आवश्यकताओं के लिए कभी आपको दुःख न उठाना पड़ेगा।

डॉक्टर—दरिद्रता ईश्वर का शाप है। दरिद्रों की सहायता करना ईश्वर की आज्ञा को तोड़ना है।

(हँसता है)

मोहन—और अमीरी गरीबों का शाप है। अमीरों को बढ़ाना गरीबों को तबाह करना है।

डॉक्टर—अमीरी-गरीबी सब ईश्वराधीन है।

मोहन—अपने अन्याय को आप दूसरे की मुहर से क्यों सही करवाते हैं ?

डॉक्टर—ईश्वर की प्रेरणा से सब होता है।

मोहन—तब तो आपने अपनी प्रेरणा को ही ईश्वर मान रखा है। ईश्वर पाप का दूसरा नाम है। इसीलिए मैं ईश्वर को ही नहीं मानता।

डॉक्टर—नास्तिक बनने में आजकल के तरुण अपनी शान समझते हैं।

मोहन—और ईश्वर के नाम पर दरिद्रों को चूसना बूढ़े अपना धर्म समझते हैं।

डॉक्टर—ईश्वर जिसको जितना देगा वही मिलेगा। वैभव को वही देता है, वही बाँटता है।

मोहन—आकाश में छोटे-बड़े मेघों का बटवारा कौन करता है ?

डॉक्टर—ईश्वर !

मोहन—कहीं नितान्त छोटा, कहीं बहुत बड़ा, कहीं हाथी का, कहीं घोड़े का, कहीं मछली और कहीं कबूतर का आकार देकर आसमान में इन उजले रुई के पहलों को दौड़ाये-दौड़ाये घुमाना ईश्वर का गौरव है ?

डॉक्टर—सब ईश्वर करता है।

मोहन—तब तो हवा की भनक को भी आप ईश्वर की तरंग कहेंगे।

डॉक्टर—नहीं तो क्या !

मोहन—(मुस्कराता) डॉक्टर साहब, वायु चलेगी। झंझावात बनेगी। प्रभंजन का रुख धारण करेगी। उसकी दौड़ के मार्ग में मेघ फँसेंगे। टक्कर खा-खाकर टूक-टूक हो जायँगे। धक्के की रगड़, उनकी

सीमा की रेखाएँ और वेग का प्रभाव उनमें चाल भरेगा। बाद में बिखेरने में न कोई क्रम है, न कोई व्यवस्था। प्रभाव का गति में अवरोध थपेड़ देकर रूपों को बिगाड़ता है और गति का गति में मिलाव रूपों को रचता है। यही जगद्-गति है। मूर्खों की भूल-भुलैयाँ है। इसी को आप ईश्वर कहकर सन्तोष करते हैं।

डॉक्टर—तुम्हारी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं!

मोहन—आपने दवा-विज्ञान पढ़ा है। हवा-विज्ञान कब पढ़ा?

[सब हँसते हैं]

डॉक्टर—ईश्वर सब प्राणियों का पिता है, सबका उसे ध्यान है। सारा विज्ञान ढकोसला है।

मोहन—यदि ईश्वर सबका पिता है, सबका ध्यान रखता है तो संसार में इतनी आर्थिक विषमता क्यों है? पिता तो पुत्रों को एक-सा रखता है।

डॉक्टर—अपने-अपने कर्म हैं।

मोहन—अच्छा, तो इस विषमता का उत्तरदायित्व हमीं पर है?

डॉक्टर—अवश्य।

मोहन—(मुस्कराकर) तो हम लोग ऐसी व्यवस्था क्यों न करें कि कोई ग़रीबों को ग़रीब न बनाए।

डॉक्टर—क्या तुम्हारा कहना यह है कि हम लोग गरीबी फैलाते हैं?

मोहन—अमीरों की गणना गरीबों की संख्या के साथ बढ़ती है। जितने बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे महल बनेंगे। उनके गारे और ईंटों के लिए उतनी ही लम्बी-चौड़ी भूमि खोदी जायगी।

डॉक्टर—मानसिक और शारीरिक विषमता कौन फैलाता है?

मोहन—आर्थिक विषमता इनकी प्रेरणा में भी है। कदाचित्

आपका ईश्वर फैलाता होगा और अपनी सन्तान को लड़ाने में उसे आनन्द-सा आता है।

डॉक्टर—तो फिर क्या ईश्वर है ही नहीं ?

मोहन—आप तो डॉक्टर हैं न ? आपके पास ऐसे बहुत-से रोगी आते होंगे, जिन्हें शौच-गृह में बड़ी देर तक बैठना पड़ता है।

डॉक्टर—अवश्य।

मोहन—सामने की सफेद दीवार पर जब वह फुरसत में घूरता है तो हलकी और गहरी सफेदी अथवा दीवार की खुरखुरी सतह में कभी एक राक्षस दिखलाई पड़ता है, कभी एक सिंह और कभी शिव-मूर्ति। पर क्या वह दूसरे को भी सरलता से दिखलाई पड़ता है ? क्या सिंह अथवा राक्षस किसी पर आक्रमण कर सकते हैं ? अथवा शिव वरदान देने के लिए प्रकट हो जाते हैं ? आपका ईश्वर भी विश्राम की सृष्टि है।

डॉक्टर—तुम कहते हो ईश्वर मन का ही स्वप्न है ?

मोहन—अपनी तरुणाई के मीठे गले के गाने को रिकार्ड द्वारा रेडियो में बहुत दिनों के बाद सुनकर कौन नहीं आश्चर्य में पड़ जाता ? वह समझता है कि कोई दूसरा ही गाता है।

मोहन—कभी कल्पना के मधुर चित्रों को भी हम भगवान् बताकर उपासना करने लगते हैं।

डॉक्टर—मैं यह भेद नहीं मान सकता मोहन ! ईश्वर मेरे रोम-रोम में बैठा है। उसे मैं नहीं छोड़ सकता।

मोहन—मैं छोड़ने को कब कहता हूँ।

डॉक्टर—हाँ, मैं कर ही क्या सकता हूँ, यह तो बतलाइए।

मोहन—अपने दिन-भर के जीवन को देखिए।

डॉक्टर—मेरे अकेले करने से क्या होगा ?

मोहन—मैं आपको संन्यासी बनने का परामर्श कब देता हूँ।

डॉक्टर—अच्छा तो ?

मोहन—अपना स्वत्व गला घोटकर ले लीजिए और दूसरे के स्वत्व को उदारतापूर्वक त्याग दीजिए।

डॉक्टर—व्यक्तियों के स्वत्वों का निर्णय कौन करे ?

मोहन—व्यक्ति-समाहार।

डॉक्टर—कहाँ एकत्र होकर ?

मोहन—सार्वजनिक मंच पर।

डॉक्टर—और सरकार क्या करे ?

मोहन—वही तो सरकार हुई। जनता की ध्वनि ही सरकार की घोषणा होती है।

डॉक्टर—बड़ी-बड़ी बातें करते हो मोहन ! धनी लोग तुम्हारी बातें सुनेंगे क्या ?

मोहन—इतिहास कहता है कि मानव वैभव त्यागने में बड़ा शिथिल है।

डॉक्टर—मेरा कहार प्रसन्न है। मेरा माली पन्द्रह रुपये मासिक में जय-जयकार करता है। इन्हें इससे अधिक क्या चाहिए ?

मोहन—धनियों ने गरीबों के मन, बुद्धि और चिंतना को भी उनके शरीर के साथ-साथ शताब्दियों से दास बना रखा है। परन्तु प्राणी स्वभावतः सुखापेक्षी है। केवल उसको उकसाना है। आपके स्वार्थ ने उन्हें भुला रखा है। उनका स्वार्थ जागा कि वे बलपूर्वक अपना स्वत्व छीन लेंगे।

डॉक्टर—तुम्हारी निराशा में तो क्रान्ति मच जायगी।

मोहन—डॉक्टर साहब, क्रान्ति की तो बड़ी आवश्यकता है। उसे तुम्हारा स्वार्थ रोक नहीं सकता।

डॉक्टर—क्रान्ति कर कौन सकता है मोहन ?

(मुस्कराता है)

मोहन—मुस्करा लीजिए डॉक्टर ! क्रान्ति वही करेगा जिसके दिल में दर्द होगा, जो स्वयं गरीबी से जल रहा है, जो गरीबों में घूम-घूमकर उनकी दुर्दशा देखता है, जिसने गरीबों के साथ कष्ट झेले हैं। जिसने उनके अंगों पर मरहम लगाया है।

डॉक्टर—यह कौन-सी नई बात कहते हो ? मैंने भी रोगियों की कहानियाँ सुनी हैं और दरिद्रता देखी है।

मोहन—जिसकी मेयो ने भी एक रिपोर्ट तैयार की है न ? फिर 'मदर इण्डिया' लिखने वाली हँसी तिरस्कार के लिए है, उपकार के लिए नहीं।

डॉक्टर—परन्तु अनुभव······

मोहन—आपका अनुभव दरिद्रों से फीस माँगते समय क्यों नहीं काम देता ? डाक्टर साहब, क्या कभी आपने किसी मजूरिन को गूदड़ों की सीवन उधेड़कर बिछौने को सुखाते देखा है। कपड़ों के अभाव से रोगी बच्चा टाट के चिथड़े पर पड़ा-पड़ा चिल्लाया करता है और बेबस माता अपने लहँगे की छींटें सीने में लगी रहती है। मेरे घर का रेडियो मुलिया के कानों तक दिन-भर पहुँचता रहता है। क्या मुलिया की कराह और कफीली खाँसी की दवा भी मेरी छत पर पहुँचती है ? बाबूजी यही कहते हैं कि यह टी० बी० का रोगी जल्दी हटे तो अच्छा है।

डॉक्टर—तो क्या बुरा है ?

मोहन—लेकिन उसे अच्छा करने के लिए यदि कुछ पैसे व्यय कर दें तो क्या उनका अपार धन कुछ कम हो जाय ? पेड़ों की जड़ों से चिपटे हुए दरिद्र भिखारी जाड़े से अकड़कर ऐंठ जाते हैं। कौन उन्हें

पूछता है ? पसीने से लथ-पथ श्रमजीवी घर पहुँचता है। सिर दर्द और और शरीर-पीड़ा से कराहा करता है। क्या कोई उनकी सुनता है ? यदि दूसरे दिन काम पर न जाय तो खाय क्या ? यही लोग क्रान्ति के अग्रदूत बनेंगे।

डॉक्टर—और तुम !

मोहन—मैं क्या, सभी तरुण इनके पीछे होंगे। समय आने दीजिए। प्रचार हो जाने दीजिए। अच्छा तो कल मुलिया को फिर देख लीजिएगा।

(प्रस्थान)

डॉक्टर—यह मुलिया क्रान्ति मचा देगी क्या ?

[पूर्ण पटाक्षेप]

पात्र-परिचय

पहला कबायली	...	...	...
दूसरा कबायली	...	...	...
तीसरा कबायली	...	...	...
राधाकृष्ण			काश्मीर का एक हिन्दू

गुल—काश्मीर का एक मुसलमान। राष्ट्रिय कान्फ्रेंस का सैनिक।

गौरी	राधाकृष्ण की लड़की
सोमनाथ, सादिक	...किसान के वेश में दो काश्मीरी

रक्त-चन्दन

समय—युद्धकालीन काश्मीर १६४७ का अक्तूबर मास

[स्टेज पर हल्का प्रकाश···चारों ओर टूटे मकानों का ढेर···ईंट, पत्थर, लकड़ी के दरवाजे और सामान···सामने एक मकान की दीवार है जिसका दरवाजा बन्द है। खिड़की कई बार आहिस्ता-आहिस्ता खुलती है और बन्द होती है। उसी के साथ प्रकाश घटता-बढ़ता है। प्रकाश के साथ स्वर भी उभरते हैं और उनके सहारे कुछ शक्लें भी उभरती हैं। कहीं दूर खटका होता है, गोली चलती है और खिड़की पर से वे मूर्तियाँ भूत की तरह गायब हो जाती हैं। कुछ क्षण सन्नाटा रहता है फिर दरवाजा खुलता है और तीन मूर्तियाँ धीरे-धीरे बाहर आती हैं। तीनों पुरुष हैं। वे चारों ओर देखते हैं और फिर धीरे-धीरे बातें करते हैं।]

गुल—अभी कोई डर नहीं है। मैंने उन्हें ऐसा उल्लू बनाया है कि वे कम-से-कम दो-तीन घण्टे इधर आने की बात नहीं सोच सकते। शोहदे कहीं औरतों की तलाश में घूम रहे होंगे।

सोमनाथ—तुम ठीक कहते हो वे कुछ नहीं चाहते, न जर, न जमीन। वे तो औरत चाहते हैं औरत। उन्होंने···उन्होंने···(स्वर भर्रा जाता है।)

गुल—हिम्मत सोमनाथ! हिम्मत से काम लो। (उसे हाथ से पकड़ता है)

सोमनाथ—मैं समझता हूँ, गुल! सब-कुछ समझता हूँ। सब-

कुछ देखता हूँ लेकिन मैं क्या करूँ ? रह-रहकर मेरी बीवी का चेहरा मेरी आँखों में उभर आता है। रह-रहकर जैसे वह मेरे कानों में कह जाती है·····'जिन्दगी-भर तुमने मेरी रक्षा करने की कसम खाई थी; लेकिन उस दिन तुम्हारे देखते-देखते वे जालिम लुटेरे मुझे उठाकर ले गए।' (भावावेग) आह गुल ! (अवकाश) वह देखो वह मेरी बीवी मुझे देख रही है। उसकी वे आँखें····वे आँखें···

गुल—वे आँखें ! वे आँखें ही तुम्हारी ताकत बनेंगी सोमनाथ ! वे तुम्हारी बीवी की आँखें नहीं हैं। वे तुम्हारे वतन की आँखें हैं। तुम्हारे खूबसूरत वतन की खूबसूरत आँखें, जो आज तुम्हें खून से खेलने को पुकार रही हैं।

सादिक—खून से नहीं जिन्दगी से कहो गुल ! आज मेरे वतन की ज़िन्दगी मोर्चे पर डटी हुई है।

सोमनाथ—और उसी जिन्दगी को ये लुटेरे पैरों से रौंद डालना चाहते हैं।

सादिक—लेकिन जिन्दगी उन्हें रौंद डालेगी सोमनाथ ! वह साँप की तरह हैं जो ठुकराने वाले को डसकर ही छोड़ता है।

सोमनाथ—मुझे यकीन है। मुझे यकीन है। मैं डरता नहीं। तुम लोग अपने मन में कुछ और न सोच बैठना। मैं पूरी तरह तैयार हूँ।

गुल—मैं जानता हूँ सोमनाथ ! तुम्हें डरने की कोई जरूरत नहीं है। जो वतन की राह में मिट जाते हैं, आने वाली नस्लें उनके कदमों के निशानों को चूमा करती हैं।

सादिक—और तवारीख उनकी शोहरत का डंका पीटती है।

सोमनाथ—मैं यह सब-कुछ नहीं जानता। मैं तो इतना ही जानता हूँ—यह आज़ादी की लड़ाई है। मेरी बीवी उसके लिए मिट गई। मैं भी मिट जाना चाहता हूँ; लेकिन उन्हें मिटाकर। उन्हें यह बताकर कि

किसी की आज़ादी पर हमला करना अपनी ज़िन्दगी पर हमला करना है।

सादिक—और अपनी ज़िन्दगी पर हमला करना है मौत !

गुल—बेशक उन्हें मौत मिलेगी, एक बुज़दिल इन्सान की मौत।

सोमनाथ—बेशक वे बुज़दिल हैं। हमलावर हमेशा बुज़दिल होता है।

[उन्हें जोश आ जाता है। स्वर तीव्र हो उठते हैं। तभी दरवाजा फिर खुलता है। एक सिर दिखाई देता है।]

राधाकृष्ण—शी शी शी···तुम लोग क्या कर रहे हो ?

गुल—(एकदम) ओह····कोई बात नहीं। हम जा रहे हैं। जब चारों तरफ आग बरसती हो तो खून को जोश आ ही जाता है। अच्छा सोमनाथ, तुम जा सकते हो, और तुम भी सादिक ! याद रखना हिम्मत न टूटने पाए। फौज आने वाली है।

सोमनाथ—तुम यकीन रखो। यह हमारी आज़ादी की लड़ाई है गुल ! इसे फौजें नहीं लड़ेंगी, हम लड़ेंगे।

सादिक—बेशक हम लड़ेंगे। हम तैयार हैं। हमारा खून झरनों की तरह मचल-मचलकर बह उठने को आतुर है।

सोमनाथ—और हमारी ज़िन्दगियाँ चिनार के लाल अंगार पत्तों की तरह मादरे वतन को ढक लेना चाहती हैं।

राधाकृष्ण—फिर वही जोश। फिर वही बातें। तुम लोग जाते क्यों नहीं ?

सादिक—(एकदम) ठीक है राधाकृष्ण ! आदाब अर्ज़, मैं चला।

सोमनाथ—और मैं भी। आदाब अर्ज़ गुल, आदाब अर्ज़ राधा-कृष्ण !

[दोनों एकदम मुड़ते हैं]

राधाकृष्ण—आदाब अर्ज़।

गुल—आदाब अर्ज सोमनाथ! आदाब अर्ज़ सादिक!

[दोनों आगे बढ़कर बाहर हो जाते हैं। एक क्षण सन्नाटा रहता है। फिर गुल मुड़ता है।]

गुल—अच्छा काका, मैं भी चला।

राधाकृष्ण—हाँ, तुम्हें भी जाना चाहिए। चाँद छिप चुका है। और गौरी का ध्यान रखना। उसे श्रीनगर पहुँचाना ही होगा, नहीं तो…

गुल—(एकदम) कुछ नहीं, काका! तुम फिक्र मत करो। मैं कुछ-न-कुछ करके लौटूँगा। अच्छा मैं जा रहा हूँ, होशियार रहना। डरना मत। जल्दी वापस आऊँगा।

राधाकृष्ण—अच्छा। देखकर जाना और गौरी का ध्यान रखना।

गुल—जरूर, जरूर।

[शब्द दूर होकर मिटते हैं। राधाकृष्ण कुछ क्षण उस ओर देखता है जिधर गुल गया है। उसी बीच में खिड़की धीरे-धीरे खुलती है। एक कुमारी का सिर धीरे-धीरे सामने आता है। प्रकाश इतना धुँधला है कि स्पष्ट कुछ नहीं दिखाई देता। पर वह एक कुमारी का मुख है, उस कुमारी का; जो भयातुर है। वह जैसे ही आगे झुकना चाहती है खट से शब्द होता है। राधाकृष्ण चौंकता है।]

राधाकृष्ण—कौन?

गौरी—(भयातुर) कोई नहीं।

राधाकृष्ण—गौरी!

गौरी—काका!

राधाकृष्ण—(अन्दर जाता हुआ द्वार बन्द करता है और खिड़की के पास आता है) तुम क्यों आ गईं?

गौरी—वैसे ही देख रही थी, काका! वे लोग गये।

राधाकृष्ण—हाँ बेटी, वे गये। हम भी अब जाने वाले हैं।

गौरी—हाँ, काका ! चलो, बड़ा डर लगता है।

[सहसा कहीं शोर उठता है। गोली चलती है। वे दोनों काँपते हैं]

राधाकृष्ण—यह क्या गोली चली ? चलो, चलो, गौरी !

गौरी—(भयातुर) काका !

[गौरी एकदम राधाकृष्ण से चिपट जाती है। वह शीघ्रता से उसे थामता है और खिड़की बन्द करता है। शोर पास आता है। वह स्पष्ट होता है। गन्दी गालियाँ, वीभत्स हँसी पास आती जाती है। कुछ ही क्षण में कई कबायली वर्दियाँ पहने और हथियारों से लैस स्टेज पर प्रवेश करते हैं। उनकी चाल बताती है कि वे नशे में चूर हैं। उन्होंने घास के जूते पहने हैं जो शब्द नहीं करते, पर उनका स्वर उसकी पूर्ति के लिए काफी है। उन्होंने बन्दूक लटकाई हुई है और वे बेतहाशा पागलों की तरह हँसते हैं और गाली देते हैं।]

पहला कबायली—(अट्टहास)—खो वहाँ तो कोई नहीं मिला। साला काफ़िर, हमको फिर धोखा दिया। कहाँ है वह ? हम उसको अभी जान से मार डालेगा।

[बन्दूक तानता है।]

दूसरा कबायली—(और भी जोर से) ओय, ओय, ओय; उधर क्या है ? उधर जला हुआ मकान है।

पहला—(उसी तरह) वही, वही, हम उसी को मारेगा। उसने हमको धोखा दिया है। उसने हमको दौलत नहीं दिया, औरत नहीं दिया। खो, तुमने इधर औरत देखा है। कम्बख्त, ये काफिर लोग कहाँ से रुपया लाता है, कहाँ से औरत पैदा करता है ?

दूसरा—मालूम होता है काफिर लोग खुदा के मुन्शी को रिश्वत देता है।

पहला—क्या ? तुमने क्या बोला ? खुदा को रिश्वत ! खुदा को रिश्वत···नई, नई, तुम झूठ बोलता है। खुदा रिश्वत नहीं माँग सकता। तुम भी काफ़िर है, साला काफ़िर। हम तुमको मारेगा, अभी मारेगा।

[बन्दूक तानता है तीसरा कबायली प्रवेश करता है।]

तीसरा—किसको मारेगा ? कौन इधर ? तुम लोग इधर क्या कर रहा है ? उधर क्यों नहीं जाता ? (हँसकर) एक मौलवी ने कुरान में सौ-सौ का नोट छिपाया है।

पहला—सौ-सौ का नोट क्या औरत होता है ? खूबसूरत औरत···· (अट्टहास)।

दूसरा—खूबसूरत औरत !! खूबसूरत औरत कहाँ है ? हम औरत माँगता है।

तीसरा—तुमको औरत मिलेगा, तीन औरत, मौलवी के घर में तीन परीजादियाँ हैं (हँसकर) तीन परीजादियाँ। खौं हम भी तीन। वो भी तीन।

दूसरा—(नाचता हुआ)। हम भी तीन, वो भी तीन, ओ ओ ओ हम भी तीन, वो भी तीन।

पहला—वो भी तीन···तीन····तीन औरत···तीन खूबसूरत औरत।

तीसरा—(उसी मस्ती में)—ऐ ऐ नाचता है ! चलता क्यों नहीं ? बहुत खूबसूरत औरत है, बहुत खूबसूरत। हा, हा, हा, तीन खूबसूरत औरत और तीन सौ-सौ का नोट। यहाँ न औरत है, न दौलत। चलो-चलो। उधर सब-कुछ है। (नाटकीय ढंग से) ज़र है, जन्नत की हूर है, तीन सौ-सौ का नोट, तीन खूबसूरत परीजादियाँ (हँसता है)।

पहला—(अट्टहास)···चलो, चलो, उधर ही चलो। (जाता है)।

दूसरा—हाँ, हाँ, ज़न्नत में चलो। वहाँ दूर है, दूर........(जाता है)।

[तीनों नाचते-गाते हँसते जाते हैं। पहला फिर लौटता है और बन्दूक उठाकर मकान को लक्ष्य करके गोली दाग देता है। गहरा स्वर उठता है फिर डूबने लगता है। कुछ क्षण गूँज उठती है फिर सन्नाटा छा जाता है। कई क्षण बाद खिड़की फिर खुलने लगती है। राधाकृष्ण का सिर उभरता है। उसकी गति बताती है कि वह चौकन्ना है। उसके साथ गौरी का सिर भी सामने आता है। तनिक-सी आहट पर वह पीछे हट जाता है। वह डरी हुई हिरनी की भाँति चौकन्नी है। दोनों धीरे-धीरे बातें करने लगते हैं।]

गौरी—काका!

राधाकृष्ण—हाँ।

गौरी—गये?

राधाकृष्ण—हाँ गये मालूम होते हैं।

गौरी—फिर तो नहीं आयँगे?

राधाकृष्ण—क्या पता, बेटी! शहर पर इन्हीं का कब्ज़ा है। जब चाहें आ सकते हैं।

गौरी—पर काका, गुल भइया तो कहते थे वे शायद आज रात को इधर नहीं आयँगे।

राधाकृष्ण—कहता तो था। उसने कोशिश भी की थी और मुझे तो ऐसा लगता है कि यह जो तीसरा कबायली आया था यह कोई गुल का भेजा हुआ भेदिया था।

गौरी—भेदिया, क्या काका?

राधाकृष्ण—कोई अपना आदमी कबायली का वेश बनाकर धोखे से उन्हें कहीं और ले गया है।

गौरी—सच ?

राधाकृष्ण—लगता तो ऐसा ही है।

गौरी—पर काका, ये लोग ऐसे क्यों हैं ? क्यों आग लगाते हैं ? क्यों लूटते हैं ? क्यों मारते हैं ?

राधाकृष्ण—ये राक्षस हैं बेटी ! इनका स्वभाव ही ऐसा है।

गौरी—ये राक्षस हैं ? नहीं काका ! ये तो आदमी हैं। इन्हें देखकर डर तो लगता है, पर हैं तो ये आदमी ही।

राधाकृष्ण—डर लगता है; तभी तो उन्हें राक्षस कहते हैं बेटी !

गौरी—डर तो बहुत लगता है, काका ! (अवकाश) काका ! मुझे माँ के पास कब ले चलोगे ?

राधाकृष्ण—(अपने आप से)—काश कि बेटी, तू भी अपनी माँ के साथ श्रीनगर चली जाती।

गौरी—क्यों काका ! बोलते क्यों नहीं ? कब चलोगे ?

राधाकृष्ण—कब चलोगे ? बस अब चलेंगे ही। गुल इसी बात का इन्तजाम करने गया है। आज हमें यहाँ से चले जाना है। कुछ भी हो।

गौरी—सच काका ! तब तो बड़ा अच्छा रहेगा। रास्ते में कुछ गड़बड़ तो नहीं है।

राधाकृष्ण—नहीं बेटी ! आगे सब ठीक है। श्रीनगर से हमारी फौजें चल पड़ी हैं।

गौरी—तो श्रीनगर चलेंगे। ओह, यहाँ तो बड़ा डर लगता है। वहाँ माँ होंगी, दादी होंगी, भइया होंगे। कैसा अच्छा रहेगा ? क्यों काका, गुल भइया कब आयेंगे !

राधाकृष्ण—(खोया-खोया-सा) बस आने ही वाला होगा।

गौरी—काका, गुल भइया बहुत अच्छे हैं।

राधाकृष्ण—(उसी प्रकार) अच्छा, वह फरिश्ता है, फरिश्ता। वह हमारा सहारा है। हमारे-जैसे हजारों बदनसीबों का सहारा है। भगवान्! तुम उसकी रक्षा करना। कहीं उसे कुछ न हो····कहीं उसे कुछ न हो।····नहीं तो····नहीं तो········

[राधाकृष्ण भावावेश में खोने-से लगते हैं। गौरी उन्हें देखती है।]

गौरी—(एकटक) काका!

राधाकृष्ण—(चौंककर) हाँ बेटी!

गौरी—काका, तुम चुप क्यों हो जाते हो? मुझे डर लगता है। देखो चाँद भी छिप गया। बाहर कैसा अँधेरा है? मुझे यहाँ से ले चलो।

राधाकृष्ण—बस, अब चलेंगे। आओ अन्दर बैठें। यहाँ कोई आ सकता है। आओ···

[राधाकृष्ण गौरी को ऐसे पकड़ते हैं जैसे अपने में समेट लेंगे और अन्दर की ओर मुड़ना चाहते हैं।]

गौरी—क्यों काका, गुल भइया भी चलेंगे?

राधाकृष्ण—वह कैसे जा सकता है? यह उसका मकान है। वह यहाँ नहीं रहा तो····

[कहते-कहते वे खिड़की बंद करना चाहते हैं कि बाहर खटका होता है, वे चौंकते हैं।]

राधाकृष्ण—कौन?

[गुल स्टेज पर प्रवेश करता है! उसके पास एक छोटी-सी गठरी है।]

गुल—मैं था काका!

राधाकृष्ण—(हर्ष से) तुम आ गए गुल!

[खिड़की से हटकर किवाड़ खोलता है, गुल अन्दर आता है, दोनों खिड़की पर आते हैं। गौरी गुल के पास आती है। वह बहुत प्रसन्न है।]

गौरी—तुम आ गए, भइया ! कब चलोगे ?

[गुल कुछ अनमना-सा है। मुस्कराना चाहकर भी मुख पर प्रसन्नता नहीं आ पाती।]

गुल—बस, अभी कुछ देर में चलेंगे।

राधाकृष्ण—गौरी ! देखो तो बेटी समावार में पानी है ?

गौरी—हाँ, है। चाय पियोगे ?

राधाकृष्ण—हाँ, गुल को चाय की जरूरत है।

गौरी—अभी बनाती हूँ।

[गौरी जाती है, राधाकृष्ण गुल को देखता है।]

राधाकृष्ण—क्या खबर है ?

गुल—खबर खराब है।

राधाकृष्ण—(चिन्ता) खराब ?

गुल—हाँ काका ! खबर बहुत खराब है। उन लोगों ने गाँव-के-गाँव तबाह कर दिए हैं। वे बेगुनाह इन्सानों की ज़िन्दगी पर मौत बरसा रहे हैं। उनके नापाक इरादे औरतों की अस्मत को बरबाद कर रहे हैं। वे ज़मीन नहीं चाहते।

राधाकृष्ण—वे ज़मीन नहीं चाहते ज़र चाहते हैं ? और···जाने दो। वह सब तो मैं भी जानता हूँ, पर सवाल यह है कि क्या किसी तरह गौरी को यहाँ से निकाला जा सकता है ? उसे डर लगता है।

गुल—उसे डर लगता है ? उसका डरना ठीक है। हैवान से आदमी नहीं डरता; लेकिन जब इन्सान हैवान बन जाता है तो उससे बस डरा ही जाता है।

राधाकृष्ण—ठीक है गुल! पर गौरी के जाने के बारे में कुछ हुआ क्या?

गुल—हाँ काका!

राधाकृष्ण—(एकदम प्रसन्न) सच?

गुल—सच काका! दुनिया की कोई भी ताक़त उसे यहाँ से जाने से नहीं रोक सकती।

राधाकृष्ण—(कुछ चौंकता तो है पर प्रसन्न होकर कहता है)··· गुल, तुम बहुत अच्छे हो। तुम्हारी वजह से गौरी अब तक बची रही है नहीं तो···

गुल—(हँसकर) ठीक है, काका! उस बात की चर्चा क्यों करते हो पर (एकदम फिर खोया-सा हो जाता है) कैसी दुनिया है यह? कैसा निज़ाम है उसका? (हँसता है)

राधाकृष्ण—गुल!

गुल—काका!

राधाकृष्ण—हालत कुछ बहुत खराब है? क्या हमारी फौजें नहीं आईं?

गुल—आने वाली हैं।

राधाकृष्ण—तो क्या वे लोग कुछ कर रहे हैं?

गुल—कुछ नहीं काका! उनका कोई डर नहीं है। वे इस वक्त भी आ जायँ, तो गौरी उन्हें नहीं मिल सकती।

राधाकृष्ण—(चकित-सा) क्या मतलब? तुम करना क्या चाहते हो?

गुल—(मुँह पर उँगली रखता है) आहिस्ता। आहिस्ता बोलो, काका! दीवारें टूट चुकी हैं। हवा से अब कोई परदा नहीं है।

राधाकृष्ण—(धीरे से) ठीक है। मुझे बताओ मैं क्या करूँ?

गुल—(पोटली देता है) लो, यह लो। इसमें सिलवार कुल्ला, कुरता और जूते हैं।

[राधाकृष्ण एकदम पोटली खोलता है और एक-एक चीज को देखता है।]

राधाकृष्ण—(प्रसन्न होकर) ओ हो! ये सब तो उन-जैसे हैं। खूब! इन्हें पहनकर मैं बिलकुल कबायली लगूँगा, बिलकुल।

गुल—और उन-जैसे बनकर उनकी हद से बाहर हो जाओगे।

राधाकृष्ण—हाँ, मैं तो हो जाऊँगा, लेकिन गौरी कैसे करेगी?

गुल—गौरी के लिए भी मैं सब सामान ले आया हूँ।

राधाकृष्ण—क्या लाए हो? देखूँ, कहाँ है?

[गुल जेब से शीशी निकालकर आगे बढ़ाता है]

गुल—यह है।

राधाकृष्ण—(चौंककर)—यह क्या···यह तो शीशी है। (हँसकर) इसमें क्या जादू की दवा है?

गुल—(गम्भीर स्वर में) हाँ काका, इसमें जादू की दवा है। इसे पीकर आदमी ऐसा गायब हो जाता है कि उसे कोई नहीं पा सकता।

राधाकृष्ण—(ठगा-सा)—सच···?

गुल—(बरबस हँसकर) लो देखो! तुम तो पढ़ना जानते हो।

राधाकृष्ण—(शीशी को रोशनी के पास ले जाता है, पढ़कर काँप उठता है) क्या क्या···यह तो···यह तो ज़हर है। क्या तुम गौरी को ज़हर देना चाहते हो?

गुल—(ढीला स्वर) काका!

राधाकृष्ण—(भयातुर) गुल! गौरी को ज़हर देना होगा—गौरी को ज़हर····

गुल—काका! और कोई रास्ता नहीं, कोई रास्ता नहीं। होता

तो काका; मैं···काश कि मैं अपनी जान देकर भी गौरी को बचा पाता।

राधाकृष्ण—(रुँधा हुआ स्वर) गौरी को ज़हर···गौरी को ज़हर, नहीं···नहीं···

गुल—(उसी तरह)···काका, मैं उसे नहीं बचा सकता; लेकिन उसे बेइज़्ज़त होते भी नहीं देख सकता। इज़्ज़त जिन्दगी से बहुत कीमती होती है, काका! बहुत कीमती।

राधाकृष्ण—(रोता है)—लेकिन गुल···गुल···

गुल—रोते हो काका! तुम्हारा रोना ठीक है, औलाद की मुहब्बत रुलाती है, लेकिन काका! अब तुम रोते हो; लेकिन जब तुम अपनी औलाद की इज्जत अपनी आँखों के सामने उन खूँखार वहशी डाकुओं के हाथों से लुटते देखोगे तब क्या करोगे?

[गुल को जोश आता है। उसका धीमा पर आवेशपूर्ण स्वर गहरी गूँज पैदा करता है। राधाकृष्ण फूट-फूटकर रोता रहता है। बोलता नहीं। सहसा गौरी के आने का स्वर उठता है। दोनों चौंकते हैं।]

गुल—काका! गौरी आ रही है। उसे अपने आँसू मत दिखाओ।

राधाकृष्ण—गुल···गुल! (राधाकृष्ण एकदम सीधा होकर आँसू पोंछता है। गौरी पास आती है।)

गुल—गौरी! तुम बहुत अच्छी हो। मुझे इस वक्त चाय की बड़ी जरूरत थी। बहुत थक रहा हूँ।

गौरी—तो लो, चाय पियो। बहुत है।

गुल—काका के लिए भी है?

गौरी—हाँ।

गुल—और गौरी के लिए भी!

गौरी—(हँसकर) मैं तो पी चुकी।

गुल—तो क्या हुआ! अब हमारे साथ पियो। तुम्हारे लिए

बाकरखानी लाया हूँ ।

गौरी—(बालोचित सरलता से) कहाँ है ?

[जेब में से निकालता है]

गुल—लो । एक ही मिली है, तुम ही खाना ।

गौरी—और तुम ?

गुल—मैं तो खा आया था ।

गौरी—काका नहीं खायँगे ? (राधाकृष्ण से) काका आधी तुम लो ।

राधाकृष्ण—(बहुत सँभलकर बोलता है, पर स्वर भर्राया हुआ है ।) तुम्हीं खाओ, बेटी ! मेरे पेट में दर्द है ।

गौरी—नहीं, काका तुम भी लो । पेट का दर्द ठीक हो जायगा । हमें चलना भी तो है । कैसी अँधेरी रात है ! चाँद भी तो छिप गया ।

गुल—अच्छा हुआ जो छिप गया । वह हमारी मुसीबत को जानता है । अँधेरे में हमें कोई नहीं देखेगा ।

गौरी—पर मुझे तो डर लगता है ।

गुल—डर की दवा तुम्हारे काका के पास है ।

गौरी—सच ? डर की भी कोई दवा होती है ।

गुल—हाँ, होती है । पर तुम पहले चाय तो दो ।

गौरी—ओ हो, वह तो मैं भूल ही गई थी ।

[प्याले में चाय उँडेलती है । प्याले फूटे हुए हैं ।]

गौरी—प्याले भी तो फोड़ गए !

गुल—उन्हें फोड़ना ही आता है । वे जोड़ना नहीं जानते ।

गौरी—(प्याला देती हुई)⋯ऐसा कब तक रहेगा भइया ?

गुल—(घूँट भरता हुआ) बस, अब सवेरा हुआ ही चाहता है । सुना है हमारी फौजें चल पड़ी हैं । इधर हम लोग भी तैयार हैं ।

गौरी—(राधाकृष्ण को प्याला देती हुई) लो काका (गुल की ओर मुड़कर) तुम भी लड़ोगे ?

गुल—अब तो सबको लड़ना होगा।

गौरी—पर मुझे तो डर लगता है।

गुल—(हँसकर) तुम अभी छोटी हो। पर तुम्हारे डर की दवा मैं ले आया हूँ।

गौरी—(हँसकर) ओ हो! वह तो मैं भूल ही गई थी। काका, दो न, कौन सी दवा है!

राधाकृष्ण—(काँप उठता है। प्याला हाथ से छूट जाता है) क्या······

गौरी—(एकदम) काका तुम्हारी चाय बिखर गई।

राधाकृष्ण—(रुँधा स्वर) बिखर जाने दो। मेरे पेट में दर्द कुछ तेज़ हो रहा है, गौरी! ओह···ओह··

(राधाकृष्ण का मुँह बुरी तरह विकृत हो जाता है आँखों में आँसू भर आते हैं। गौरी पास आकर हाथ पकड़ती है।)

गुल—(गम्भीर अर्थ-भरा स्वर) काका! पेट के दर्द को ठीक कर लो। हमें अभी चलना है, देर हो गई तो वे लोग आ सकते हैं। इस बार उन्हें धोखा नहीं दिया जा सकता।

राधाकृष्ण—(सँभलता हुआ) ठीक है। मैं ठीक हूँ गुल! मैं चलूँगा। अभी चलूँगा।

गुल—तो गौरी को उसकी दवा दे दो।

राधाकृष्ण—गुल···अभी देता हूँ। चाय पी लूँ। बेटी! चाय और है ?

गौरी—है काका!

राधाकृष्ण—तो दो न। बाकरखानी भी दो।

गौरी—(चाय उँडेलती हैं; बाकरखानी देती है) लो काका! और मुझे दवा दो।

राधाकृष्ण—अभी देता हूँ। (बाकरखानी का टुकड़ा गौरी के मुँह में देता है।) लो खाओ!

गौरी—(भरा मुँह) मैं तो खा ही रही थी।

गुल—पर काका के हाथ से कहाँ खाया था। (हँसता है।)

गौरी—(हँसती है)···अच्छा काका। दवा तो दो। फिर चलें।

गुल—हाँ, दो काका! गौरी को चलने का बड़ा चाव है। ठीक भी है बेचारी अपनी माँ से मिलेगी।

गौरी—और दादी से, भइया से।

गुल—हाँ सबसे मिलना। काका अब दवा दे दो, जल्दी करो।

राधाकृष्ण—(शीघ्रता से) लो, गुल तुम दे दो। मैं तनिक अन्दर देख लूँ।

[शीशी देता है। हाथ काँपता है।]

गुल—(शीशी लेकर)—हाँ, काका! तुम जरूरी समान बटोर लो। लो गौरी; यह दवा आँख मीचकर पी लो।

[राधाकृष्ण लड़खड़ाता, है पर रुकता नहीं। गौरी दवा की शीशी हाथ में लेती है।]

गौरी—आँख मीचने की क्या जरूरत है। क्या कड़वी है?

गुल—नहीं।

गौरी—तो लो मैं ऐसे ही पी जाती हूँ। (शीशी खोलकर मुँह से लगाती है) देखो।

[दवा मुँह में जाती है। चेहरा विकृत होता है देखते-देखते गौरी छट-

पटाने लगती है और पीछे को गिर पड़ती है। मुँह से अस्फुट स्वर निकलता है] का······

[गुल एकदम पुकारता है]

गुल—गौरी······

[राधाकृष्ण दौड़े आते हैं]

राधाकृष्ण—(रोते हुए) गौरी···गौरी·········इ-ही ही ही

[फूट-फूटकर रोता है]

गुल—(रुँधा स्वर) काका···काका······

राधाकृष्ण—(चीत्कार करता हुआ) गौरी···गौरी··· मेरी बेटी ! गुल, गौरी कहाँ गई ? गौरी, तू तो अभी बोल रही थी। तू अब कहाँ गई। गुल, गौरी कहाँ गई। उसे तूने मार डाला। गुल तूने गौरी को मार डाला।

गुल—(रुँधा कण्ठ) काका ! काका ! तसल्ली···तसल्ली करो·······

राधाकृष्ण—(उसी तरह) तूने मेरी बेटी छीन ली, तूने मुझे बरबाद कर दिया और अब कहता है तसल्ली करो···गौरी···बेटी गौरी······तू कहाँ गई ?

गुल—(रुँधा पर गहरा स्वर) काका ! काका !! हमें यहाँ से चलना है। आज ही चलना है।

राधाकृष्ण—(जैसे सँभलता है) गुल···गुल······गौरी मर गई।······

गुल—(गम्भीर स्वर)—नहीं काका ! गौरी अब गई। वह भगवान् के पास चली गई है। वहाँ उसकी खूबसूरती और अस्मत का कोई मोल-तोल करने वाला नहीं होगा। गौरी खुश-किस्मत थी, काका बहुत खुश-किस्मत·······

राधाकृष्ण—(रोता हुआ) गुल···गुल ! तुम कुछ नहीं जानते। मैं उसकी माँ को क्या जवाब दूँगा ! जब वह पूछेगी मेरी बेटी को कहाँ छोड़ आए, तो क्या कहूँगा ! बताओ क्या कहूँगा ?

गुल—अब कहने की क्या बात है ? कहना तो तब मुश्किल होता जब अस्मत के वे लुटेरे उसे उठाकर ले जाते।···उठो और भगवान् का शुक्र मनाओ। तुम्हारी बेटी की जान चली गई; लेकिन जान से प्यारी अस्मत नहीं गई।

राधाकृष्ण—(कुछ सँभलकर) गुल, तुम क्या कह रहे हो ! मैं मैं बाप हूँ, गौरी का बाप !

गुल—तभी तो कहता हूँ तुमने बेटी की अस्मत को बचा लिया; और काका, तुमने अपनी बेटी की अस्मत नहीं बचाई, तुमने दुश्मन की आँखों में धूल झोंकी है। लुटेरों के मनसूबों पर पानी फेरा है। तुमने वतन के दुश्मनों से वतन की आबरू की रक्षा की है।

राधाकृष्ण—(चकित-सा ऊपर को मुँह उठाता है) गुल···गुल······ तुम क्या कह रहे हो ?

गुल—ठीक कह रहा हूँ काका ! उठो और वतन पर जान कुर्बान करने वाली बेटी को आग के सुपुर्द करो।

[कहीं गोली चलती है, शोर उठाता है]

राधाकृष्ण—(काँपकर) वे फिर आ गए गुल !

गुल—कोई डर नहीं, अब कोई डर नहीं, काका ! हम तैयार हैं, लो उठो। गौरी को अन्दर ले चलो।

[क्षणिक सन्नाटा, फिर शोर, राधाकृष्ण का काँपना]

गुल—उठो काका ! वे आ गए तो······

राधाकृष्ण—(उठाता हुआ) नहीं, नहीं, गुल ! जो इसके जीते जी नहीं छू सके वे मरने पर भी नहीं छू सकेंगे। (कण्ठ रुक जाता है)

गुल—तुम बहादुर हो काका !

[दोनों गौरी को उठाकर ले जाते हैं। शोर पास आता जाता है। खिड़की-द्वार दोनों बन्द होते हैं। गालियों का शोर उठता है। दो कबायली झूमते हुए स्टेज पर प्रवेश करते हैं।]

पहला कबायली—खों काफिर ने हमें कितना बेवकूफ बनाया। मौलवी तो पहले ही लुट चुका था। न वहाँ सौ-सौ के नोट थे, न परीजादियाँ।

दूसरा—वहाँ तो बस साला काफिर था वह बोलने वाला। क्या नाम था उसका ?

पहला—तुम रेडियो की बात कहता है। (हँसता है) ओ हो हो हो, वह कहता था वह बोलता है, गाता है ओ हो हो···रेडियो गाता है।

दूसरा—मैंने जब कहा···गाओ तो वह बोला तक नहीं। मेरे हाथों में आते ही साले की ज़बान बन्द हो गई। मैंने भी साले को एक ही बार में चूर-चूर कर दिया।

पहला—परीजादियाँ ? मुझे परीजादी चाहिए। मुझे औरत चाहिए, खूबसूरत औरत। साला काफिर खूबसूरत औरत होता है।

दूसरा—इधर कहीं जरूर औरत होगा। जरूर ढूँढो।

[तभी लकड़ियों के जलने का स्वर उठता है, कुछ प्रकाश भी आता है]

पहला—यह रोशनी कैसी ? कहीं आग जल रही है।

दूसरा—आग ! इधर आग लग रही है। मेरे दिल में भी आग जल रही है। तुम देखो···

पहला—ओ ओ···इधर नहीं उधर देखो, उधर। आग उधर लगा है।

दूसरा—उधर लगा है ! ठीक लगा है। जहाँ औरत नहीं है,

जर नहीं है वहाँ आग ही लगना चाहिए। हम औरत माँगता है, औरत नहीं देगा तो आग लगेगा। खुदा इन्साफ करता है।

पहला—पर मुझे औरत चाहिए। इधर नहीं है, तो उधर चलो। चलो···

दूसरा—चलो, चलो। इधर चलो, उधर चलो। कहीं चलो।

[वे उसी मस्ती में आगे बढ़ना चाहते हैं पर रुककर बन्दूक तानते हैं और जिधर से रोशनी दिखाई देती है उधर दाग देते हैं। तेज शब्द उठता है, वे अट्टहास करते हैं।]

पहला—(अट्टहास) ओ हो, हो हो और आग लगना चाहिए, खूब आग लगना चाहिए······

[दोनों जाते हैं। कई क्षण शोर उठता है फिर शान्ति छा जाती है। कई क्षण बाद खिड़की खुलती है। दो सिर उठते हैं]

गुल—गये, कैसे खूँखार लोग हैं!

राधाकृष्ण—(रुँधा स्वर) कैसी भयानक रात है! कैसा भयानक नज़ारा है!

गुल—और हम लोगों ने दुश्मन को कैसा झिकाया, कैसा पस्त किया! (आह खींचकर) और गौरी ने मरकर भी हमारी कैसी मदद की! कैसी भली! कैसी प्यारी लड़की थी!

राधाकृष्ण—(कुछ कहना चाहता है, पर रो पड़ता है) गुल···!

गुल—रोओ मत, काका; गौरी एक बहादुर लड़की थी। रोना बहादुरों की बेइज़्ज़ती करना है।

राधाकृष्ण—(आँसू पोंछकर) गुल मैं क्या करूँ? मैं बाप हूँ। मेरा दिल······

गुल—तुम्हारा दिल नहीं मानता। ठीक है। पर अब तुम फिकर मत करो। यकीन करो, मैं गौरी के फूलों की जी-जान से रक्षा करूँगा।

वह तुम्हारे स्वर्ग से भी ऊ पर, तुम्हारे ध्रुव-लोक से भी ऊपर गई है। श्रीनगर में तुम धूम-धाम से उसका किरिया-करम करना। देख लेना काका, गौरी को लोग देवी की तरह पूजेंगे।

[राधाकृष्ण बराबर रोये जा रहा है]

गुल—चलो काका, तुम्हें छोड़ आऊँ। चलो!

[उसे वहाँ से पकड़कर ले चलता है। वे खिड़की से हटते हैं। द्वार खुलता है। दोनों कबालियों के वेश में बाहर जाते हैं। गुल द्वार बन्द करता है। राधाकृष्ण एकदम फूट-फूटकर रोता हुआ द्वार से चिपक जाता है।]

राधाकृष्ण—बेटी, बेटी, गौरी ई···ही···

[गुल उसे बाँहों में भरता है]

गुल काका! तुम्हारी बेटी वतन पर कुरबान हुई है। उसी वतन के लिए अपने को सँभालो। तुम्हें वतन को बचाने के लिए अभी बहुत-कुछ करना है। मुझे यकीन है गौरी-जैसी बहादुर बेटी का बाप बुज़दिल नहीं हो सकता।

राधाकृष्ण – (सँभलकर) गुल, चलो! मैं बुज़दिल नहीं हो सकता। नहीं मैं बुजदिल नहीं हो सकता। मेरे सामने मेरी बेटी की मिसाल है। (आवेश) बेटी, यकीन रखो मैं तुम्हारे खून का बदला लूँगा। मैं दुनिया को तुम्हारी कहानी सुनाऊँगा। मैं एक तूफान पैदा कर दूँगा और उस तूफान में मेरे वतन का एक-एक दुश्मन तबाह हो जायगा। गुल, तुम गवाह हो। गौरी तुम्हारे सुपुर्द है।

गुल—यकीन रखो मैं उसको जान से भी ज्यादा प्यार करता हूँ। मैं अपना खून देकर भी उसकी हिफाजत करूँगा।

[दोनों धीरे-धीरे एक ओर को जाते हैं। राधाकृष्ण बार-बार मुड़ता है। पर गुल उसे प्यार से थपथपाकर ले जाता है। दूर आग की रोशनी तेज होती है। स्टेज पर प्रकाश गहरा होता है और परदा गिर जाता है।]

श्री चन्द्रकिशोर जैन

श्री जैन हिन्दी में नव-नवोन्मेषिनी प्रतिभा लेकर जन्मे थे। अपने छात्र-जीवन से ही उन्हें नाटकों में भाग लेने और उनका निर्देशन करने की रुचि थी। उनका सबसे पहला एकांकी नाटक सन् १६४२ में लखनऊ-रेडियो से प्रसारित हुआ था। उसके बाद तो दिल्ली तथा कलकत्ता आदि स्टेशनों से उनके कई एकांकी प्रसारित हुए। रेडियो-एकांकी लिखने में आपको इतनी क्षमता प्राप्त थी कि अपने पहले नाटक के प्रसारित होने पर ही उन्हें हिन्दी के गण्यमान्य एकांकीकारों की ओर से काफी प्रोत्साहन तथा प्रशंसा से भरे पत्र मिले। उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन कहानी-लेखन से प्रारम्भ किया था। खेद है कि अल्पावस्था में ही आपका देहावसान हो गया। यदि आप जीवित रहते तो हिन्दी-साहित्य को अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ भेंट करते। आपके एकांकियों का संग्रह 'एकांकिका' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

पात्र-परिचय

सेठ विलासराय	...	नायक
गोपीचन्द	...	उनका पुत्र
दर्शनलाल	...	प्रधान मुनीम (६० वर्ष का)
चमनलाल	...	सेठ का नौकर
रजनी	...	चमनलाल की बहन

मक्खन चपरासी, बैंक बाबू और कोतवाल ।

कानून

पहला दृश्य

स्थान—सेठ विलासराय का दफ़्तर।

[कमरा पुराने व्यवसायियों के ढंग पर सजा हुआ है। दीवार पर एक-दूसरे के बहुत समीप 'रावी एंड कम्पनी' की पौराणिक तस्वीरें लगी हुई हैं। एक बड़ा-सा फर्श बिछा हुआ है, बीच में मखमल का कालीन है और उस पर दो बड़े तकिये रखे हैं। सामने टाइमपीस में साढ़े दस बज रहे हैं।

इस कमरे में इस समय दर्शनलाल के अतिरिक्त और कोई नहीं। वे इस फर्म के प्रधान मुनीम हैं—उम्र लगभग ६० वर्ष, दुबला-पतला इकहरा शरीर, मध्यम कद, आधी मूछें और मुंह में पान। सन्दूकची पर कुछ कागज रखे, वे हिसाब जोड़ने में व्यस्त हैं। उनका चश्मा नाक की नोंक पर रखा हुआ है।]

दर्शन—पाँच और बारह, सत्रह, सत्रह और नौ, छब्बीस, और ग्यारह सैंतीस के पाँच आने, हाथ में दो रुपये...

[मक्खन चपरासी का प्रवेश। दर्शन उसे घूरकर देखते हैं।]

दर्शन—क्या बजा है मक्खन ?

मक्खन—(घड़ी देखकर) दस बजकर पैंतीस मिनट।

दर्शन—और दफ्तर आने का क्या समय है ?

मक्खन—दस बजे !

दर्शन—फिर दस बजकर पैंतीस मिनट होने का कारण ?

मक्खन—आज ही देर हो गई है। आइन्दा खयाल रखूँगा।

दर्शन—हाँ, भविष्य में ध्यान रहे। सेठ जी के आने से पहले सबको यहाँ आना चाहिए ! (अन्दर की ओर देखकर) चमनलाल भी अभी तक नहीं आया। नाक में दम कर रखा है तुम लोगों ने (मक्खन बाहर चला जाता है। दर्शनलाल फिर हिसाब जोड़ने लगते हैं) हाथ के दो रुपये, दो रुपये, (मक्खन फिर प्रवेश करता है और कुछ कहने की चेष्टा करते हुए भी चुप रह जाता है। दर्शनलाल इस बाधा से क्रुद्ध हो उठते हैं) क्या है ?

मक्खन—एक साहब अन्दर आना चाहते हैं।

दर्शन—एक साहब ?

मक्खन—जी नहीं, एक औरत !

दर्शन—एक औरत ?

मक्खन—जी हाँ, बाबू चिमनलाल से मिलना चाहती है।

दर्शन—कह दो, वे अभी नहीं आये हैं।

मक्खन—यह मैंने उनसे कह दिया है। (प्रस्थानोद्यत)

दर्शन—और सुनो, यह भी कह दो कि यह दफ़्तर है, स्त्रियों से मिलने का स्थान नहीं।

मक्खन—मैंने यह भी कह दिया है। कहती हैं कि बहुत जरूरी काम है, बिना मिले वापस नहीं जायँगी।

दर्शन—(सोचकर) अच्छा, उन्हें यहाँ भेज दो।

मक्खन—बहुत अच्छा।

[मक्खन चला जाता है। दर्शनलाल फिर हिसाब जोड़ने लग जाते हैं। कुछ क्षण पश्चात् एक क्षुब्ध-सी युवती प्रवेश करती है—बहुत दुबली, पतली और दुखियारी-सी। उसकी उम्र २० साल की होगी। उसके बिखरे

बाल और धँसी हुई आँखें स्पष्ट बता रही हैं कि वह पीड़ित है। वह दर्शनलाल के पास आकर खड़ी हो जाती है।]

रमणी—मैं चमनलाल से मिलना चाहती हूँ।

दर्शन—आपका उनसे कोई दफ़्तर-सम्बन्धी कार्य है ?

रमणी—जी नहीं।

दर्शन—तो उनके घर जाकर मिलिए।

रमणी—वे घर नहीं हैं।

दर्शन—तो यह सेठ विलासराय का दफ़्तर है, रेलवे का वेटिंग रूम नहीं। यहाँ आप दफ़्तर के कार्य से ही मुलाकात कर सकती हैं।

रमणी—दो दिन से उनके यहाँ रोज जा रही हूँ। मकान पर ताला लगा मिलता है और मुलाकात नहीं होती। मुझे उनसे बहुत ही आवश्यक कार्य है।

दर्शन—(रमणी की ओर संदिग्ध भाव से देखता हुआ) उनका आपसे क्या सम्बन्ध है ?

रमणी—वे मेरे भाई हैं।

दर्शन—अपने भाई ?

रमणी—अपने पराये, जो हैं, ये ही हैं। इनके अतिरिक्त मेरा संसार में कोई नहीं।

[बाहर से दो बच्चों की दौड़-धूप और शोर सुनाई देता है।]

दर्शन—(बाहर की ओर देखता हुआ) किसके बच्चे हैं ये ?

रमणी—मेरे।

दर्शन—(चिढ़कर) उनसे मिलने के लिए आप बच्चे भी साथ ले आई हैं ? जाइए, सन्ध्या समय उनसे घर पर ही मिलिएगा।

रमणी—मुझे बहुत आवश्यक कार्य है महाशय ! मुझे अभी उनसे मिलना होगा। यह मेरे जीवन-मरण का प्रश्न है।

दर्शन—(विस्फारित नेत्रों से देखता हुआ) जीवन-मरण का प्रश्न है ?

रमणी—जी हाँ, जीवन-मरण का प्रश्न है !

[चमनलाल का प्रवेश । दुबला पतला-सा ३० वर्ष का युवक मैले खादी के कपड़ों में । वह दर्शनलाल के पास जाकर उन्हें नमस्कार करता है और रमणी को देखकर आश्चर्यान्वित होता है ।]

दर्शन—(चमनलाल से) ये तुमसे दो बातें करना चाहती हैं। कहती हैं, बहुत जरूरी काम है, जीवन-मरण का प्रश्न है । (कुर्सी पर से उठता हुआ) तुम इनसे बातें करो, मैं अभी बाहर से आया । ध्यान रखना, सेठ जी के आने का समय हो गया है ।

[दर्शनलाल का प्रस्थान । चमनलाल उस रमणी के पास आ जाता है ।]

चमन—यहाँ कैसे, रजनी ! क्या फिर कोई नई बात हो गई है ?

रजनी—अब तो हद हो गई, भैया ! रात नशे में बुरी तरह सराबोर लौटे । द्वार खोलने में जरा देर हुई, तो यह देखो ··(बाँह दिखाती है) बेंत और जूतों की मार से कैसी दुर्दशा कर दी है ? आते ही बच्चे को धम्म से पृथ्वी पर दे मारा ।

चमन—क्यों, क्या अपराध किया था उसने ?

रजनी—उनकी चारपाई पर सो रहा था ।

चमन—तुमने उन्हें रोका क्यों नहीं ?

रजनी—मेरा रोकना ही तो जहर बन गया । मेरे बोलने पर छुरा लेकर उसकी हत्या कर रहे थे । बगल वाली मेरा चिल्लाना सुनकर न दौड़ आती, तो उसकी भी कहानी समाप्त थी । पन्द्रह दिन पहले एक को छत से धकेलकर मार डाला था और रात दूसरे की जान के पीछे पड़े थे । (रो पड़ती है)

[चमनलाल रजनी के आँसू अपनी कमीज के आँचल से पोंछकर उसके सिर पर हाथ फेरने लगता है ।]

चमन—तुम रात ही मेरे पास क्यों नहीं चली आईं, रजनी ?

रजनी—रात कैसे आती ? अब उनके बाहर जाते ही तुम्हारे पास आई हूँ । (कुछ क्षण के बाद) मैं कब तक उनके नशे की भट्टी में अपने बच्चों को झोंकती रहूँ, भैया ?

चमन—मैं क्या जानता था कि तुम्हें मैं एक कसाई के हाथों सौंप रहा हूँ, बहन ! (दीर्घ श्वास)

रजनी—मेरा तो ऐसा भी ठिकाना नहीं कि किसी के यहाँ जाकर दो दिन रह आऊँ । तुम्हारे यहाँ आती हूँ, तो और उत्पात मचाते हैं । आत्महत्या करना चाहती हूँ तो बच्चों का भविष्य सोचकर हृदय फटने लगता है । जब वे मेरे सामने इतना अत्याचार करते हैं, तो मेरे बाद क्या हाल होगा ?

चमन—कुछ दिनों के लिए जयपुर जाकर मामाजी के यहाँ क्यों नहीं रह आतीं ?

रजनी—कैसे जाऊँ, बताओ !

चमन—परसों ही तुम्हें रुपये दिये थे, क्या सब समाप्त हो गए ?

रजनी—रुपये तो सारे रखे हैं किन्तु अकेली कैसे चली जाऊँ ? तुम ही दो दिन के लिए चलकर क्यों नहीं पहुँचा देते ?

चमन—बहुत यत्न कर रहा हूँ, लेकिन छुट्टी नहीं मिलती । (कुछ सोचकर) खैर, आज बारह बजे की गाड़ी से अवश्य चलेंगे, और सदा के लिए चलेंगे । जब यहाँ से जाना ही है, तो सेठ की खुशामद कैसी ? जयपुर चलकर ही कमा खाऊँगा । तुम्हें अब उस अधर्मी के यहाँ जाने की आवश्यकता नहीं । तुम बच्चों को लेकर स्टेशन चलो, मैं आ रहा हूँ । (रजनी जाना चाहती है) और सुनो, रुपये पास हैं ?

रजनी—हाँ !

चमन—अच्छा, तुम आगे बढ़ो, मैं समय पर आ जाऊँगा।

[एक बार फिर आँसू पोंछकर जैसे कि बहन को विदा करना चाहता है, दर्शनलाल आ जाते हैं। और घूरते हुए देखकर खड़े हो जाते हैं।]

चमन—(रजनी से) जाओ रजनी ! मैंने जो कहा है, वही करना।

[रजनी का प्रस्थान]

दर्शनलाल—देखो चमनलाल, एक तो तुम कभी समय पर नहीं आते, उस पर तुम्हारे अपने-पराये मिलने आया करते हैं। जीवन-मरण की बात पर दया करके मैंने उसे तुमसे मिलने की अनुमति दी थी और उसने आकर रोना-धोना आरम्भ कर दिया। यदि सेठजी आ जाते, तो मैं क्या उत्तर देता ?

चमन—इस बार क्षमा कर दीजिये। भगवान् ने चाहा तो फिर ऐसा कभी नहीं होगा।

दर्शनलाल—(व्यंग से) फिर ऐसा कभी नहीं होगा; मिल वाली रोकड़ का काम समाप्त हुआ ?

चमन—कल जरूर हो जायगा ?

दर्शनलाल—इतने दिनों से तुम क्या कर रहे थे ? सुमतप्रसाद को गये कितने दिन हुए ?

चमन—पाँच दिन।

दर्शन—पाँच दिन में तुम इतना जरा-सा काम नहीं कर सके ? ना बाबा, ऐसे काम नहीं चलेगा। अन्त में सारी जिम्मेदारी मेरे सिर आयगी। अच्छी तरह काम करना है तो ठीक है, वरना और कहीं काम देख लो। (चमनलाल अपराधी की भाँति चुप खड़ा रहता है) यहाँ खड़े मेरे मुख की ओर क्या देख रहे हो ? जाओ अपने कमरे में। आज काम खत्म किये बिना तुम घर न जा सकोगे।

चमन—(घबराकर) किन्तु आज तो बारह बजे मुझे बहुत जरूरी काम है, मुनीम जी ! ऐसा ही है, तो कल रोक लीजिएगा।

दर्शन— (आज्ञापूर्ण स्वर में) दफ्तर का काम तुम्हारे घर के कार्य से अधिक जरूरी है। जाओ अपने कमरे में।

[निराश चमनलाल का प्रस्थान। दर्शनलाल फिर हिसाब जोड़ने में व्यस्त हो जाते हैं। कुछ देर के बाद सेठ विलासराय अपने पुत्र गोपीचन्द के साथ प्रवेश करते हैं।

विलासराय अधेड़ उम्र के व्यक्ति हैं। उन्होंने पुराने व्यवसायियों-जैसी पोशाक पहन रखी है, अर्थात् धोती, अचकन और पगड़ी। कमरे में आते ही वे पगड़ी उतारकर रख देते हैं, जिससे पता चलता है कि उनके कच्चे, पक्के, सफेद और काले बाल सिर से काफी उड़ चुके हैं। सामने के सारे दाँत टूटे हुए हैं। उनक पुत्र गोपीचन्द पढ़ा-लिखा प्रतिभाशाली युवक मालूम पड़ता है। वह सूट पहने हुए है।

दर्शनलाल उठकर उनका अभिवादन करते हैं और फिर तीनों अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। सेठजी कागज उठाकर जाँच-पड़ताल करने लगते हैं, मुनीमजी हिसाब जोड़ने लगते हैं और गोपीचन्द पास रखा हुआ अखबार पढ़ने लगता है।]

सेठ—(दर्शनलाल से) मुनीम जी ! बैंक के लेजर और अपनी रोकड़ में कितना फर्क है ?

दर्शनलाल—लगभग ३०० रु० का।

सेठ - लगभग क्या, ठीक बताइये, कितना फर्क है ?

दर्शनलाल—(कागज देखकर) २६७) रु० का।

सेठ—आश्चर्य !

दर्शनलाल—कल से इसी में लगा हूँ, कहीं गलती नहीं निकलती। देखिये, बैंक के लेजर की नकल। (कुछ काग़ज़ सामने रख देते हैं)

सेठ—जरा फर्म वाली चेक-बुक तो देखूँ (दर्शनलाल सन्दूकची से चेक-बुक निकालकर सामने रख देते हैं। सेठजी मुसन्नों को पलटने लगते हैं) ५००) रु० वकील को, ठीक है। १०००) रु० सरनीमल जैनकुमार के नाम, क्यों मुनीम जी ?

दर्शनलाल—(देखकर) जी हाँ, ठीक है।

सेठ—३००) रु० का चैक······किसके नाम है ? देखो तो, गोपीचन्द यह तो तुम्हारे ही हस्ताक्षर हैं।

गोपीचन्द—(देखकर) जी हाँ। मेरे ही हैं ! (फिर अखबार पढ़ने लगता है।)

सेठ—किस काम से रुपये मँगाए थे ?

गोपीचन्द—(अखबार पढ़ने में बाधा पाकर खीझा हुआ-सा) किस तारीख का चेक है ?

सेठ—२० तारीख का। (गोपीचन्द सोचने का प्रयत्न करता है) केवल पाँच दिन पहले की बात है और तुम्हें याद नहीं ?

गोपीचन्द—जी हाँ, याद है। पान वाले के रुपये दिये थे।

सेठ—तुम पान नहीं खाते, मैं नहीं खाता, कभी-कभी आने-जाने वालों के लिए मँगवा दिए जाते हैं, उस पर एक माह में ३००) रु० ?

गोपीचन्द—(अखबार रखकर आश्चर्य से) ३०० रु० ? असम्भव ! देखूँ तो जरा चेक-बुक। (चेक-बुक देखकर) मुझे खूब याद है मैंने ३)रु० बैंक से मँगवाकर पान वाले को दिये थे।

सेठ—इतनी छोटी रकम के लिए भला चेक देने की क्या आवश्यकता थी ? तुम अपने पास से दे सकते थे।

गोपीचन्द—आपकी ही आज्ञा है कि फर्म-सम्बन्धी सारे रुपये चेक द्वारा दिये जायँ, ताकि हिसाब साफ रहे।

सेठ—(फिर चेक-बुक देखकर) किन्तु यहाँ तो ३००) रु० लिखे हुए हैं। किसने चेक बनाया था?

गोपीचन्द—मैंने तो मुनीम जी को दे दिया था।

सेठ—(दर्शनलाल से) क्यों मुनीम जी?

दर्शनलाल—उसी समय सेठ प्रकाशनारायण आ गए थे और मैं उनसे बात करने लगा था। मैंने वह चेक सुमतप्रसाद को दे दिया था और उसने ही रुपये इन्हें लाकर दिये थे। आपको स्मरण होगा, गोपीचन्द जी!

गोपीचन्द—जी हाँ, खूब स्मरण है। सुमतप्रसाद ही ने मुझे रुपये लाकर दिये थे।

सेठ—और सुमतप्रसाद शनिवार को नौकरी छोड़कर चला गया। इसके अर्थ हुए वही रुपये लेकर चम्पत हो गया।

दर्शनलाल—बड़े आश्चर्य की बात है। तीस वर्ष से यहाँ काम कर रहा हूँ, कभी ऐसा नहीं हुआ।

सेठ—आश्चर्य की बात तो है ही। अंक के स्थान पर तीन के पीछे दो शून्य बढ़ा दिये गए हैं और अक्षर की जगह सौ और लिख दिया गया है। इससे बड़ा क्या गबन हो सकता है? गोपीचन्द! जरा कोतवाली फोन करना। (गोपीचन्द उठ खड़ा होता है) और सुनो, बगल से ज़रा बैंक-बाबू को दो मिनट के लिए मेरे पास भेज देना।

गोपीचन्द—बहुत अच्छा। (प्रस्थान)

सेठ—आज ही गिरफ़्तारी का वारण्ट निकलवा दूँगा, सारी जालसाजी निकल जायगी सुमतप्रसाद की।

[बैंक-बाबू का प्रवेश]

बैंक-बाबू—नमस्ते, सेठजी!

सेठ—आइये बैंक-बाबू! इस माह की २० तारीख को आपके यहाँ

हमारा कोई चेक गया था ?

बैंक-बाबू—इतना याद रखना तो असम्भव है, क्योंकि सैकड़ों चेक रोज आते-जाते हैं। देखूँ जरा चेक-बुक (पास बैठकर चेक-बुक देखता है और याद करने की कोशिश करता हुआ) ओ! याद आया। शनिवार होने के कारण एक बजे ही बैंक बन्द हो चुका था, किन्तु आपका चेक था, इसलिए इसे खास तौर से कैश कर दिया गया था।

सेठ—कौन चेक लेकर गया था ?

बैंक-बाबू—जहाँ तक याद आता है और मस्तिष्क काम करता है वह आदमी आपका छोटा मुनीम था।

सेठ—उसकी सूरत याद है ?

बैंक-बाबू—गोरा रंग, नाटा कद, उम्र लगभग ३० साल और······

सेठ—ठीक है। वह सुमतप्रसाद ही था और इसे हम पहले ही समझ गए थे। वह आदमी यहाँ से नौकरी छोड़कर चला गया है, इसलिए अभी हम उसे आपके सामने शनाख्त के लिए पेश नहीं कर सकते। खैर, अदालत में तो आप उसे पहचान लेंगे न ?

बैंक-बाबू—जी, बखूबी।

[इतने में चमनलाल अपने कमरे से बाहर जाता दिखाई देता है।]

सेठ—कहाँ जा रहे हो, चमनलाल ?

चमन—एक काम से दस मिनट के लिए बाहर जा रहा हूँ।

सेठ—अभी ठहरो, थोड़ी देर में जाना। एक ज़रूरी बात की जाँच-पड़ताल हो रही है।

चमन—जो आज्ञा। (वापस चला जाता है)

बैंक-बाबू—सेठजी! यह वही आदमी है, जिसने चेक कैश कराया था।

सेठ—आपको ठीक याद है ?

बैंक-बाबू—मैं कसम खाकर कह सकता हूँ।

सेठ—सुमतप्रसाद के स्थान पर कहीं इसे पहचानने में आप भूल तो नहीं कर रहे हैं ?

बैंक-बाबू—मेरी आँखें कभी धोखा नहीं खा सकतीं।

सेठ—अच्छा, अब आप जा सकते हैं। आवश्यकता पड़ने पर फिर कष्ट दूँगा। (नमस्ते करके बैंक-बाबू का प्रस्थान) क्यों मुनीम जी ! आप तो इसकी बड़ी प्रशंसा किया करते थे। अब बताइए, क्या किया जाय ?

दर्शनलाल—उसे बुलाकर पूछिये।

सेठ—(पुकारता है) चमनलाल !

चमन—(अन्दर से) जी !

सेठ—इधर आओ।

चमन—बहुत अच्छा।

गोपीचन्द—(आकर सेठ के पास बैठता हुआ) कुछ पता चला ?

सेठ—सब चमनलाल की कार्रवाई है।

गोपीचन्द—(आश्चर्य से) चमनलाल की ?

सेठ—हाँ ! (चमनलाल वहाँ आ जाता है, सेठ उसे मुसन्ना दिखाता है) तुम इस चैक के विषय में कुछ जानते हो ?

[चेक-बुक देखते ही चमनलाल के मुख का रंग उड़ जाता है। वह घबरा उठता है।]

चमन—जी नहीं।

सेठ—(डाटकर) होश में उत्तर दो। तुमने गत शनिवार को इसे कैश कराया था ?

चमन—(अपने को सँभालता हुआ) ओ !···गत शनिवार को ?··· जी हाँ, याद आया, मैंने ही इसे कैश कराया था।

सेठ—तुम्हें यह चेक कहाँ से मिला ?

चमन—मुझे सुमतप्रसाद ने दिया था।

सेठ—(दर्शनलाल के प्रति) और आपने चेक सुमतप्रसाद को दिया था ?

दर्शनलाल—जी हाँ !

सेठ—(चमनलाल से) तुम जानते हो गोपीचन्द जी ने केवल ३) रु० का ही चेक दिया था ?

चमन—जी नहीं, ३००) रु० का।

सेठ—बको मत। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि चेक ३) रु० का दिया गया था। तुमने अथवा सुमतप्रसाद ने जालसाजी करके तीन सौ बना लिया है।

चमन—मैंने ?···नहीं, सेठजी ! सुमतप्रसाद ने मुझे ३००) रु० का ही चेक दिया था।

सेठ—अच्छा यही सही। चेक लेकर वह स्वयं क्यों नहीं गया ?

चमन—(गोपीचन्द को संकेत करके) बाबूजी के पास वह कुछ जरूरी कागज लिये जा रहा था। मैं खाली था, इसीलिए उसने मुझे दे दिया था।

सेठ—तो तुम यह कहना चाहते हो कि सुमतप्रसाद ने गबन किया है और इसमें तुम्हारा कोई हाथ नहीं ?

चमन—यह मेरा मतलब नहीं; सेठजी ! मैं तो इतना ही जानता हूँ कि सुमतप्रसाद ने मुझे चेक दिया था और मैंने रुपये लाकर दे दिए थे।

सेठ—(दर्शनलाल से) सुमतप्रसाद को यहाँ से गये कितने दिन हुए मुनीम जी ?

दर्शनलाल—वह सोमवार से यहाँ नहीं आ रहा।

सेठ—क्यों चमनलाल ?

चमन—जी हाँ, शनिवार के दिन ही उसने अपना सारा काम मुझे सौंप दिया था।

सेठ—शनिवार को सुबह से ही चेक-बुक गोपीचन्द की जेब में थी और उस दिन वह भूल से उसे घर ले गया था। फिर बृहस्पतिवार के दिन आवश्यकता पड़ने पर चेक-बुक ख़ास तरीके से घर से मँगवाई गई थी। तुम्हें याद होगा, गोपीचन्द !

गोपीचन्द—जी हाँ !

सेठ—यदि सुमतप्रसाद ने ग़बन किया होता, तो मुसन्ने पर कोई परिवर्तन न होता। मुसन्ने की रद्दो-बदल यह प्रमाणित करती है कि इसमें सुमतप्रसाद का कोई हाथ नहीं, बल्कि और किसी का हाथ है क्योंकि इसमें जो किया गया है, बृहस्पतिवार के बाद। (सब चुप रहते हैं। कुछ क्षण तक सन्नाटा छाया रहता है) क्यों चमनलाल ? क्या अब भी अस्वीकार करोगे कि यह शुभ कार्य तुम्हारे द्वारा सम्पन्न नहीं हुआ है ?

चमन—(घबराकर) मैंने···मैंने···यह चेक···मैंने तो···।

सेठ—(चीत्कार करके) हाँ तुमने, चमनलाल तुमने ! तुमने ही ऐसा किया है। सच बोलो, क्या मामला है ?

चमन—(कुछ देर बाद सिर झुकाए) जी हाँ, मुझसे ही यह ग़लती हो गई थी।

सेठ—क्यों ग़लती हो गई थी ?

चमन—मुझे रुपयों की सख्त जरूरत थी।

सेठ—तुम्हें रुपयों की ज़रूरत होगी, तो चोरी करोगे, किसी की हत्या कर डालोगे ?

चमन—संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं, सेठजी! जो परिस्थिति के अधीन चोरी भी करते हैं और हत्या भी। मैं चारों ओर से निराश हो गया था, इसलिए मुझे ऐसा करना पड़ा।

सेठ—निराशा में भी क्या मनुष्य तुम्हारे-जितना साहस कर सकता है?

चमन—जब आशा मनुष्य का साथ छोड़ देती है, तब उसे निराशा से ही बल मिलता है, सेठजी! आपके दफ़्तर से थककर घर जाने के बाद, जो हाथ थकावट के मारे भोजन नहीं बना सकते थे और भूखे पेट सो जाना पड़ता था, उन्हीं हाथों में निराशा के कारण इतनी शक्ति आ गई कि मैंने आपके रुपये चुराकर बहन को दे दिए।

गोपीचन्द—बहन को?

चमन—हाँ, बहन के लिए ही मैंने चोरी की है। बचपन से अनाथ होने के कारण मेरी कमज़ोर पीठ पर बोझ रहा है। मैं गरीब था इसलिए कहीं भी उसके लिए मुझे योग्य पात्र नहीं मिल सका।

गोपीचन्द—तो तुमने अभी तक उसका विवाह नहीं किया?

चमन—किया, किन्तु एक दुश्चरित्र शराबी से, क्योंकि इसके अतिरिक्त मेरे पास कोई चारा नहीं था; किन्तु इसका जो भीषण परिणाम हुआ उसकी कल्पना मैंने स्वप्न में भी न की थी। कोई दिन ऐसा नहीं होता कि जिस दिन उसके शरीर का तिल-भर स्थान भी जूतों और बेंतों के दाग से वंचित रह जाय। मैंने हृदय को पाषाण बनाकर सब सहन कर लिया। वह एक-एक पैसे को तंग रहती और...

सेठ—और तुमने रुपये चुराकर उसकी तंगी दूर कर दी?

चमन—हाँ, सेठजी! मुझे यही करना पड़ा। परिस्थिति इतनी भयंकर हो उठी कि मैं अपने को नहीं सँभाल सका। पन्द्रह दिन की बात है कि उस लम्पट ने एक बच्चे को छत पर से ढकेलकर

उसकी हत्या कर डाली और अब मेरी बहन और उसके दो बच्चे भी उसके नशे की ज्वाला में अपनी आहुति देने जा रहे थे।

सेठ—मैं मानता हूँ, वह ऐसा कर लेता, किन्तु रुपयों से उसका कैसे उद्धार हो सकता था ?

चमन—मैंने तय कर लिया था कि चुपके से बहन और उसके बच्चों को लेकर मामा जी के यहाँ जयपुर छोड़ आऊँगा ? महीने में २०) रु० मिलते हैं आपके यहाँ से। इससे अपने पेट के ही चारों कोने नहीं भरते। यहाँ से उन्हें ले जाने के खर्च के लिए ही मुझे आपके रुपये चुराने पड़े !

गोपीचन्द—यदि तुम उन्हें यहाँ से नहीं ले जाते, तो क्या होता ?

चमन—वह किसी भी क्षण इनकी हत्या कर सकता था। एक दिन की बात है—मुझे अच्छी तरह याद है, जब प्रातःकाल वह बच्चों को लेकर मेरे पास आई थी। उसके सिर से रक्त निकल रहा था। पीठ पर बेंतों के ताजे दाग थे। घसीटे जाने के कारण उसका सारा शरीर बुरी तरह से छिला पड़ा था और गले पर उँगलियों की छाप थी। गला घोंटकर उसे मार डालने की कोशिश की गई थी। उसे देखकर मेरा रोम-रोम सिहर उठा। उस घटना की कल्पना अब भी मेरे लिए असह्य है।

गोपीचन्द—(दिलचस्पी लेता हुआ) तब, उसके बाद ?

चमन—दफ़्तर आया तो काम में बिलकुल मन नहीं लगा। बार-बार यही सोचता रहा कि फिर वैसा हुआ तो अवश्य उसकी मृत्यु हो जायगी। बहन की सूरत और उस पर किये गए अत्याचार चलचित्र की भाँति आँखों के सामने नाच गए। इतने में सुमतप्रसाद ने वह चेक मुझे लाकर दिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो उसकी मूक आँखें कह रही हैं—"लो यह भगवान् का आशीर्वाद। उन्होंने तुम्हारी बहन की पुकार सुन ली।"

सेठ—उसके बाद ही तुमने गबन करने की ठान ली ?

चमन—मैं आपसे सच कहता हूँ कि मुझे बिलकुल याद नहीं कि ऐसा करने की कुभावना का मेरे हृदय में कब प्रादुर्भाव हुआ और मैंने कब चेक में रद्दो-बदल की। इतना अवश्य याद है कि दूसरे क्षण मैं बैंक में था और रुपये मेरे हाथ में। अपने पाप का प्रतिबिम्ब जब पहली बार मेरे मस्तिष्क में आया, तो मैं पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगा। जी में आया कि रुपये नाली में फेंककर सामने से आती हुई मोटर के पहियों में जा कूदूँ, किन्तु उसी समय आर्द्रा बहन की करुण मूर्ति आँखों के सामने आ खड़ी हुई, उसका आर्त-नाद कानों के परदों से टकराने लगा, मैं अचेत-सा आकर अपनी कुर्सी पर बैठ गया।

सेठ—तो तुम्हें यह याद नहीं कि तुमने चेक पर कब रद्दो-बदल की ?

चमन—जी नहीं !

सेठ—और मुसन्ने पर संख्या बढ़ाने की बात भी तुम्हें याद नहीं ?

चमन—जी हाँ, वह अच्छी तरह याद है।

सेठ—तो इससे यह प्रमाणित हुआ कि तुम इस कार्य के लिए अवसर की तलाश में थे ?

चमन—जी हाँ।

सेठ—किस दिन तुमने ऐसा किया ?

चमन—शुक्रवार के दिन।

सेठ—कभी तुमने यह नहीं सोचा कि रुपये वापस करके अपना अपराध स्वीकार कर लूँ ?

चमन—इसीलिए तो मैंने निश्चय किया था कि किसी से कर्ज लेकर या कमाकर आपके रुपये जयपुर से अवश्य भेज दूँगा।

सेठ—अच्छा जाओ अपना काम करो। बड़ी सफाई पेश करना

जानते हो। (नतमस्तक चमनलाल का प्रस्थान) कोतवाली में फोन कर दिया है, गोपीचन्द ?

गोपीचन्द—जी हाँ! क्या आप इसे पुलिस के हवाले करना चाहते हैं ?

सेठ—हाँ!

गोपीचन्द—पिताजी! यह उसकी पहली भूल है।

सेठ—इसीलिए मैं उसे अदालत के सुपुर्द करना चाहता हूँ, ताकि उसे फिर दुबारा ऐसी भूल करने का प्रोत्साहन न मिले।

गोपीचन्द—उसकी परिस्थिति में ऐसा करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य होना पड़ता। सो जरा उसकी बहन की दुर्दशा को तो देखिए। ऐसी अवस्था में क्या आप और मैं ऐसा न करते ?

सेठ—परिस्थिति का मनुष्य के चरित्र के ऊपर क्या महत्त्व है ? मनुष्य परिस्थिति के अधीन नहीं।

गोपीचन्द—परिस्थिति के आगे मनुष्य बेबस है। जहाँ प्रत्यक्ष रूप से वह मनुष्य के अधीन दीख पड़ती है, वहाँ भी वास्तव में मनुष्य ही परिस्थिति के हाथों का खिलौना बनकर उसके इशारों पर नाचता फिरता है। इसी का दूसरा नाम है मजबूरी।

सेठ—तो क्या मजबूरी में मनुष्य को चोरी-जैसा घृणित कार्य करना चाहिए ?

गोपीचन्द—यदि घर में आग लगी हो तो उसे नाबदान के पानी से बुझाना पाप नहीं। मुझे उसका अपराध अस्वीकार नहीं, मैं तो केवल यह कहना चाहता हूँ कि जालसाजी करना उसका पेशा नहीं, केवल बेबसी में ही उसे ऐसा करना पड़ा है। ऐसा वज्र-हृदय भाई कहीं नहीं मिलेगा जो बहन की ऐसी विकट दुर्दशा को देखकर पाषाण बना रहे—और वह भी एक हिन्दू बहन, जिसके पति के अमानुषिक व्यव-

हारों से मुक्ति पाने का कोई मार्ग नहीं, वह यहन, जो मृत्यु को गले का हार बनाकर जीवन से खेल रही है।

सेठ—क्या यह जरूरी है कि जो-कुछ वह कह रहा है सत्य है ?

गोपीचन्द—क्या अब भी आप उससे झूठ बोलने की आशा करते हैं, पिताजी ! हमारे जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप यही है और हमारे अस्तित्व की सबसे भीषण ट्रेजेडी यही है कि एक बार ग़लती कर लेने के बाद हज़ार पश्चात्ताप करके भी हम उसका प्रतिकार नहीं कर सकते, उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप आजीवन जलकर भी, अपने सिर से पाप का बोझ हलका नहीं कर सकते। अपने किये हुए पापों के एहसास से बढ़-कर मानव के लिए दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं, और वही चमनलाल कर रहा है।

सेठ—मैं उसके सारे जुर्म साफ़ कर सकता था, किन्तु यदि यह बात न खुलती तो बेचारा निरपराध सुमतप्रसाद मारा जाता। मैं उसका यह अपराध माफ नहीं कर सकता, गोपीचन्द !

गोपीचन्द—जब इतनी छोटी भूलों को देखकर हम आँख फेर लेने की क्षमता नहीं रखेंगे, तो आँखों के सामने दिन दहाड़े बड़े-बड़े अपराधों को विस्मृति के अतल उपकूल में विलीन होते देखकर हम कैसे ज़िन्दा रहेंगे, पिताजी ? हमें चमनलाल का जुर्म जितना बड़ा मालूम पड़ रहा है, यह वास्तव में उतना बड़ा नहीं है। एक, जो जुर्म करके फाँसी के तख्ते पर जाता है, दूसरा, वही जुर्म करके एक साम्राज्य का अधिकारी होता है। जुर्म की भी क्या कोई कसौटी होती है, पिताजी ?

सेठ—हाँ, जुर्म की कसौटी होती है और वह है क़ानून। इससे सामाजिक जीवन का सुधार होता है।

गोपीचन्द—और इस सुधार में विनाश की भी एक बहुत बड़ी लचक होती है।

सेठ—नहीं, कानून एक ऐसी आँधी है, जो अपने अदृश्य वेग में देश और समाज की तमाम बुराइयों को दूर बहा ले जाती है।

गोपीचन्द—साथ ही वह ऐसी भयानक आँधी है, जो लौटकर नहीं देखती कि उसके वेग से कौन सी लता टूटी, कौन सा वृक्ष उखड़ा, कौन सी बसी-बसाई छत कब और कहाँ उड़कर चली गई। कानून अन्धा होता है।

सेठ—कानून अन्धा हो सकता है, किन्तु इसे राह पर चलाने वाला इसका संचालक न्याय अन्धा नहीं। न्याय एक औषधि है, जिसे पाकर आत्मा की बड़ी-से-बड़ी कालिमा धुल जाती है।

गोपीचन्द—जी नहीं, न्याय एक ऐसा बोझिल रथ है, जिसके पहियों के नीचे एक बार कुचले जाने के बाद मनुष्य-जीवन की रीढ़ सदा के लिए टूट जाती है। वह उठकर कभी खड़ा नहीं हो सकता, उसे समाज में स्थान नहीं मिलता। आपकी दृष्टि में कानून और न्याय कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु हो सकती है, किन्तु मेरी राय में यह एक मकड़ी का जाला है जिसमें निरीह और निर्बल प्राणी एक बार फँसकर कभी वापस नहीं निकलते, किन्तु एक साधन-सम्पन्न व्यक्ति के जाते ही इसके ताने-बाने स्वयं टूटकर बिखर जाते हैं। चमनलाल निरीह और निर्बल प्राणी है, उसे क्षमा कर देना ही न्याय है, पिताजी!

मक्खन—(आकर) कोतवाल साहब आये हैं।

सेठ—उन्हें यहाँ ले आओ। (मक्खन का प्रस्थान) देखो गोपीचन्द! संसार के सारे अपराधियों को क्षमा कर देने की उदारता में और किसी को क्षमा न करने की निष्ठुरता और हृदयहीनता में ज्यादा फर्क नहीं। मैं अपनी ज़िम्मेदारी समझता हूँ। इसलिए कोतवाल साहब के सामने वाद-विवाद की आवश्यकता नहीं, काफ़ी बहस हो चुकी है।

गोपीचन्द—मेरी तबियत खराब हो रही है, मैं घर चला पिताजी!

[एक ओर से गोपीचन्द का प्रस्थान, दूसरी ओर से कोतवाल साहब का प्रवेश]

कोतवाल—आदाब अर्ज है, सेठजी !

सेठ—तस्लीम, तस्लीम ! आइये कोतवाल साहब ! इधर तशरीफ लाइये।

[कोतवाल सेठजी के पास आकर बैठ जाता है।]

कोतवाल—मुझे किसलिए आपने याद किया सेठजी ?

सेठ—(अन्दर की तरफ पुकारता हुआ) चमनलाल ! ज़रा इधर आना।

[चमनलाल आता है और कोतवाल को देखकर उसके होश उड़ जाते हैं। वह उसे सलाम करके सेठजी के पास खड़ा हो जाता है।]

सेठ—मेरे दफ़्तर में गबन हुआ है और इतनी होशियारी से कि गबन करने वाले की तारीफ करनी पड़ती है।

कोतवाल—कितने रुपयों का गबन हुआ है ?

सेठ—२९७) रु० का। ३) रु० के चेक को ३००) का बनाकर उसे कैश करा लिया गया है। यह लीजिए चेक-बुक (चेक-बुक खोलकर सामने रख देता है) यह है मुसन्ना और ये हैं श्री चमनलाल, मेरे दफ्तर के मुनीम। गबन करने का कमाल आपको ही प्राप्त है और आपने अपना जुर्म भी स्वीकार कर लिया है।

कोतवाल—(चमनलाल को आँखें दिखाता हुआ) क्या यह ठीक है ?

चमन—(सेठ से) चाहे जैसे हो, मैं आपके रुपये वापस कर दूँगा। इस बार मुझे क्षमा कर दीजिये, फिर ऐसी गलती कभी नहीं होगी।

कोतवाल—तो फिर इसे अपना गबन कबूल है।

सेठ—आपके ही सामने कह रहा है।

कोतवाल—तो मैं इसे कोतवाली लिये जा रहा हूँ।

चमन—(रोकर सेठ से) सेठजी ! मैं आपके पैर पड़ता हूँ, मुझे पुलिस के हवाले न कीजिए। मुझे केवल इस बार क्षमा कीजिये। (सेठ के पैरों पर गिर पड़ता है।)

कोतवाल—चलो उठो। तुम्हें जो कहना है, अब कोतवाली चलकर कहना।

[खींचकर उसे सेठजी के पैरों पर से उठा लेता है।]

चमन—दुहाई है आपकी सेठजी ! मुझे बचा लीजिए, मेरी अनाथिनी बहन पर दया कीजिये, वह घर छोड़कर चली आई है, मेरे अतिरिक्त अब उसके लिए कहीं स्थान नहीं रहा। सेठजी ! मुझे केवल इस बार क्षमा कीजिये, मुझ पर तरस खाइए।

[कोतवाल उसे खींचकर ले जाता है। देखा जाता है कि दर्शनलाल अपने आँसू पोंछ रहे हैं।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वही दफ़्तर। समय तीन वर्ष बाद।

[दर्शनलाल अपने पुराने स्थान पर बैठे हैं। चमनलाल फटे-पुराने चीथड़ों में उनके सामने खड़ा है। उसका स्वास्थ्य पहले से गिर गया है। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है, आँखें धँसी हुई और मुख पर निराशा और वीरानी की रेखाएँ स्पष्ट रूप से दीख रही हैं।]

दर्शन—तीन वर्ष ! हाँ, पूरे तीन वर्ष के बाद तुमसे मुलाकात हो रही है चमनलाल ! क्या इतने दिन जेल ही में रहे ?

चमन—ढाई वर्ष जेल में रहा और छः महीने दुनिया की खाक छानता रहा।

दर्शन—तुम्हें दो वर्ष का ही कारावास मिला था न ?

चमन—जी हाँ, दो वर्ष की कैद और ४००) रु० जुर्माना, जिसे अदा न कर सकने के कारण छः महीने और कैद में रहना पड़ा।

दर्शन—जेल से छूटने के बाद तुम छः महीने तक क्या करते रहे ?

चमन—दो-एक जगह नौकरी की, किन्तु टिक न सका। फिर इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहा।

दर्शन—क्यों ?

चमन—एक बैंक में नौकरी मिली थी। दो मास भी नहीं हो पाए थे कि एक बाबू को मेरे अतीत इतिहास का पता चल गया। उसने मैनेजर से शिकायत कर दी और मैं निकाल दिया गया।

दर्शन—उसके बाद ?

चमन—उसके बाद एक सेठ के यहाँ मुनीम हुआ। वहाँ तो सात दिन भी न रह पाया था कि भेद खुल गया। धक्के देकर निकाल दिया गया और तनख्वाह जब्त। अब तो मेरा जेल जाना अभिशाप का टीका बनकर सदा मेरे माथे पर मौजूद रहता है। काफी प्रसिद्ध हो चुका हूँ। जहाँ जाता हूँ, दरबान ही अन्दर घुसने नहीं देता।

दर्शन—तुम्हारी बहन का आजकल क्या हाल है ?

चमन—जिस दिन मैं पकड़ा गया, उसी दिन स्टेशन पर रेल के नीचे दबकर उसने आत्म-हत्या कर ली। (आँखों में आँसू आ जाते हैं।) बेचारी ने एक बार मुझसे मिलने तक की चेष्टा न की।

दर्शन—और उसके बच्चे ?

चमन—शायद अनाथालय भेज दिए गए।

दर्शन—तुम उनसे मिले ?

चमन—कौन सा मुँह लेकर उनसे मिलने जाता ? अपनी अपवित्र छाया उन पर डालकर मैं उनका भविष्य नष्ट नहीं करना चाहता।

दर्शन—तुम्हारी दुर्दशा सुनकर मुझे भी बड़ा दुःख हुआ, चमनलाल ! किसी दूसरे नगर में नौकरी तलाश कर लेते।

चमन—अब कहीं जाने का साहस मुझमें नहीं रहा। जेल से छूटने के बाद एक बार जयपुर मामाजी के यहाँ गया था। दो दिन भी उनके यहाँ अच्छी तरह रह न पाया था कि मामीजी बोलीं—"तुम जानते हो, चमनलाल ! लड़कियों के व्याह की बातचीत चल रही है। तुम्हारे यहाँ रहने से उनका सम्बन्ध अच्छी जगह न हो सकेगा। लो, ये दस रुपये और यहाँ से चले जाओ।" मैंने सधन्यवाद उनके रुपये लौटा दिये और फिर किसी के यहाँ नहीं गया। अब मुझे मनुष्य से घृणा हो गई है। अकेला ही अपने पापों का बोझ ढोता फिर रहा हूँ।

दर्शन—पाप का बोझा ?

चमन—आजकल मैं लोगों की जेब काटकर अपना निर्वाह करता हूँ।

दर्शन—(आश्चर्य से) जेब काटकर ?

चमन—जी हाँ, जेल में एक प्रवीण जेब काटने वाले से मेरी मित्रता हो गई थी। ढाई वर्ष में उसने इस कला का सारा रहस्य मुझे बता दिया। अब मैं पूर्ण सफलता से किसी की भी जेब काट सकता हूँ।

दर्शन—मैं यह क्या सुन रहा हूँ, चमनलाल ? क्या मनुष्य का का इतना पतन हो सकता है ?

चमन—पेट के गड्ढे को भरने के लिए मेरे पास और क्या चारा था ?

दर्शन—मैं उसकी व्यवस्था करूँगा। और आज ही सेठजी से कहकर तुम्हारी पुरानी जगह तुम्हें दिला दूँगा। तुम अपनी आत्मा के धब्बों को धो डालने का यत्न करो।

चमन—मैं भी इसलिए अपनी आत्मा की फटकार बुरी तरह सुन

रहा हूँ। स्टेशन की बेंच पर पड़े-पड़े मैंने रुपयों से भरी जेबों को आँखों के सामने से गुजरते देखा, जिन पर अल्प प्रयास-मात्र से ही मैं स्वामित्व प्राप्त कर सकता था, किन्तु मैंने घृणा से मुख फेर लिया। एक बार फिर निष्पाप जीवन व्यतीत करने की ठानी है। आप मुझे यहाँ जगह दिलवा दें।

[सेठ विलासराय और गोपीचन्द प्रवेश करते हैं। दर्शनलाल उनका अभिवादन करते हैं और जब उनकी दृष्टि चमनलाल पर पड़ती है तो उसे वे कठिनाई से पहचान पाते हैं।]

सेठ—अरे चमनलाल, तुम यहाँ कैसे ?

दर्शन—नौकरी की तलाश में आया है।

सेठ—चमनलाल हमेशा मेरे और गोपीचन्द के तर्क का विषय बना रहा। हम तो निर्णय ही कर चुके थे कि जेल से आते ही इसकी जगह इसे दे देंगे। (चमनलाल से) हमारा तुम्हारे साथ कोई वैर नहीं था, चमनलाल ! सुधारने के अभिप्राय से ही तुम्हें कानून के हाथों सौंपा गया था।

चमन—उस समय क्षमा करके ही आप मेरा अधिक उपकार कर सकते थे, सेठजी ! आज मैं बहन और उसके बच्चों को खोकर जिस अकेलेपन का अनुभव कर रहा हूँ, उसका प्रतिदान संसार का सारा साम्राज्य भी नहीं कर सकता।

सेठ—खैर, जो हुआ सो हुआ, अब मैं तुम्हारी जगह तुम्हें फिर देता हूँ।

चमन—मैं आपका आभारी हूँ। जीवन की यही मेरी अन्तिम और क्षीण आशा थी।

सेठ—तुम्हारी हालत बहुत दर्दनाक मालूम हो रही है। कुछ रुपयों की आवश्यकता हो तो पेशगी में ले सकते हो।

चमन—मेरे पास इस समय एक पैसा भी नहीं है। मैं तीन दिन का भूखा हूँ।

सेठ—गोपीचन्द ! चमनलाल को २०) रु० का चेक दे देना !

गोपीचन्द—पिताजी ! फिर चेक ?

सेठ—नहीं, चेक से नहीं। मैं उसे अपने पास ही से दूँगा। (जेब से निकालकर उसे रुपये देता हुआ।) यह लो, एक माह की पेशगी—हमें तुम्हारा विश्वास है। कल से काम पर आ जाना।

चमन—बहुत अच्छा।

[नमस्कार करके वह जैसे ही जाना चाहता है, सामने से कोतवाल और दो सिपाही प्रवेश करते हैं।]

कोतवाल—(चमनलाल से) क्यों बे ? कहाँ था तीन दिन से ? कहीं तेरा पता भी है ?

सेठ—क्या किया है इसने कोतवाल साहब ?

कोतवाल—तीन दिन से न जाने कहाँ लापता है और न कोतवाली में ही हाजिरी देने आया है। इन दो रातों में शहर में आठ नकब लग चुके हैं। यह सब इसी पाजी का काम है। (सिपाहियों से) बाँध लो इस बदज़ात को !

[सिपाही चमनलाल को गिरफ़्तार कर लेते हैं !]

चमन—आज फिर गिरफ़्तार होते समय न तो मुझे भय है और न क्षोभ ही। पहली बार जुर्म करके भी अदालत के सामने मुझे बहुत-कुछ कहना था और आज, निर्दोष होकर भी, मुझे कुछ नहीं कहना है। लगातार कई महीनों तक सफलता के साथ, न जाने, कितनी जेबें काटी होंगी, किन्तु गिरफ्तारी तो दूर रही, कोतवाल साहब को मुझ पर सन्देह तक नहीं हुआ। आज जब पापों को तिलांजलि दे पवित्र और निष्पाप जीवन को फिर निर्वाह करने का स्वप्न देखा, तो शहर की तमाम

चोरियों की ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर है। कल जेल से छूटकर आया, आज पकड़ा गया, कल आऊँगा, परसों फिर गिरफ़्तारी होगी। क्या बुरा है, इसी क्रम में यदि जीवन कट जाय। आइये कोतवाल साहब! (प्रस्थानोद्यत)

सेठ—कोतवाल साहब! इस बार मेरे कहने से आप इसे छोड़ दें, मैं खर्च करने को तैयार हूँ।

कोतवाल—अब तो कतई मजबूरी है सेठजी! पहली दफा मेरे हाथ की बात थी। आप कहते, तो मैं जरूर छोड़ देता, लेकिन अब इस का नाम दफ़्तर की किताबों में दर्ज हो चुका है। अच्छा, माफी चाहता हूँ। (सिपाहियों से) कोतवाली ले चलो इसे!

[आगे कोतवाल, पीछे सिपाही चमनलाल को ले जाते हैं।]

गोपीचन्द—क्या कहा था मैंने पिताजी! उस समय ही क्षमा करके आप इसका सुधार कर सकते थे, किन्तु आपने मेरी एक न मानी। आपने केवल इसका जीवन और भविष्य ही नहीं बिगाड़ा, वरन् इसकी बहन की हत्या का पाप भी आपके सिर है। जब तक यह जिएगा, कहीं सुदूर बैठा हुआ अपने जीवन का मर्सिया पढ़ा करेगा और आप सोते-जागते, उठते-बैठते उसे सुना कीजियेगा। आज आपकी आत्मा के चारों ओर एक दरिद्र की हत्या और उसके अभिशाप की काली लकीरें खिच गई हैं और लाख पश्चात्ताप करके भी आप उसका प्रतिकार नहीं कर सकेंगे, जैसे उस दिन चमनलाल आपके दफ़्तर में नहीं कर सका था। देखी आपने अपने कानून की कामयाबी! (हाथ पर गाल धरे सेटजी निर्वाक् बैटे रहते हैं।)

[पटाक्षेप]